ॐ

श्रीमद् राजचन्द्र-प्रणीत

भावनाबोध-मोक्षमाला

अन्तर्गत सिन्धुबिन्दुरूप

बारह भावना और बालावबोध शिक्षापाठ

प्रकाशक

रावजीभाई छगनभाई देसाई

परमश्रुत प्रभावक मंडल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

प्रकाशकीय

'श्रीमद् राजचन्द्र' वचनामृतका हिन्दी भाषान्तर श्री० प० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, ललितपुर द्वारा हो रहा है, जिसके पूर्ण होनेमे अभी पर्याप्त समय लग जाना सभव है। उसमेंसे आरम्भिक 'मोक्षमाला' का भाषान्तर पहले छप जाय तो हिन्दी-भाषी जिज्ञासुओकी माँगको सतोष मिले, इसी हेतुसे इस 'मोक्षमाला' की हिन्दी आवृत्ति आश्रमके ज्ञान-खातेसे प्रगट करके मुमुक्षुओंके कर-कमलोमे रखते हुए हमे अति आनन्द होता है।

'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थका हिन्दी भाषान्तर कराकर प्रगट करनेके सत्श्रुत-प्रचाररूप अति उपयोगी एव प्रशसनीय कार्यमे वाकानेर-निवासी स्व० श्री केशवलाल लीलाधर गाधीकी इच्छानुसार उनके सुपुत्र श्री हसमुखलाल केशवलाल गाधी द्वारा ६००१) रुपयेकी उदार भेंट आश्रमके परमश्रुतप्रभावक मण्डल-विभागको मिली है, अत सत्श्रुतके प्रति उनके इस प्रेम, आदर और भक्तिभावके लिए हम उनका अत्यन्त आभार मानते हैं। आशा है उन्हे भी वचनामृतके प्रारम्भिक-भागरूप इस प्रकाशनसे अवश्य सन्तोष होगा।

इस प्रकाशनमे आहोर-निवासी श्रीमती मोतीबेन फूलचन्दजी वन्दाकी ओरसे ५०१) रुपये प्राप्त हुए हैं, इसके लिए उनका भी हम आभार मानते हैं।

सत-सेवक

रावजीभाई देसाई

'जिसने आत्माको जाना उसने सब कुछ जाना'

—निर्ग्रन्थ प्रवचन

ज्ञान ध्यान वैराग्यमय,
उत्तम जहां विचार;
ए भावे शुभ भावना,
ते उतरे भवपार।

मुमुक्षुओको मोक्षमार्गमे प्रगति करनेमे
सर्व प्रकारसे सहायक हो यही इस
प्रकाशनका हेतु है ।

ॐ

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और
सत्समागम ।
सुषुप्त चेतनको जागृत करनेवाले,
गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाले,
दर्शन मात्रसे भी निर्दोष
अपूर्व स्वभावके प्रेरक,
स्वरूप प्रतीति, अप्रमत्त संयम
और
पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके
कारणभूत,
अन्तमें
अयोगी स्वभाव प्रगटकर
अनन्त अव्याबाध स्वरूपमें
स्थित करानेवाले !
त्रिकाल जयवन्त वर्तो !

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

—श्रीमद् राजचन्द्र

अनुक्रमणिका

भावनाबोध—द्वादशानुप्रेक्षास्वरूप-दर्शन

मोक्षमाला (बालावबोध)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२४	६	न नीरखुँ	ना नीरखु
१२८	१२	अवकारु	अवधारु
१२७	९	वरावर	बरावर
१२७	१६	वेसुध	वेसुध
१३१	५	ऊठवानो	ऊठवानी
१३६	२	किये	कि ये
१३६	२०	चक्रवर्ती	चक्रवर्ती
१३९	१२	मन पययज्ञान	मन पर्ययज्ञान
१४२	१६	नग्र	मग्न
१४४	४	विल्कुल	विल्कुल
१५६	२५	असातावेदनीय	सातावेदनीय
१६०	१५	पररमाको	परात्माको
१६१	४	हैं	हैं
१६२	१	प्राप्र	प्राप्त
१६२	१	सुख सुख	सुख
१६५	९	हैं	हैं
१६६	१७	विपयक्रीडाकी	विपयक्रीडा की
१७३	६	विरगी	विरगी
१८१	२१	मति और श्रुतज्ञान	मति और श्रुतज्ञान
१८५	१	पांखडी	पाखडी
१८६	२१	निर्ग्रंय	निर्ग्रंथ
२०७	३	प्रासकी	प्रास की
२०९	२	समागमये	समागम ये
२१५	८	व्याख्याकी	व्याख्या की

●

भावनाबोध
मोक्षमाला

•

श्रीमद् राजचन्द्र वर्ष १६ वा

जन्म ववाणिया देहोत्सर्ग राजकोट

वि० सं० १९२४, कार्तिक सुदी १५ वि० सं० १९५७, चैत्र वदी ५

(गुज०)

भावनाबोध

(द्वादशानुप्रेक्षा-स्वरूपदर्शन)

उपोद्घात

सच्चा सुख किसमे है ?

चाहे जैसे तुच्छ विषयमे प्रवेश होनेपर भी उज्ज्वल आत्माओंकी स्वाभाविक अभिरुचि वैराग्यमे प्रवृत्त होनेकी है। बाह्य दृष्टिसे जबतक उज्ज्वल आत्मा ससारके मायामय प्रपचमे दर्शन देते हैं तबतक इस कथनका सिद्ध होना क्वचित् दुर्लभ है। तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस कथनका प्रमाण मात्र सुलभ है, इतनी बात नि सशय है।

एक छोटे-से-छोटे प्राणीसे लेकर मदोन्मत्त हाथीतक सभी प्राणी, मनुष्य और देवदानव इत्यादि सभीकी स्वाभाविक इच्छा सुख और आनन्द प्राप्त करनेकी है। इसलिए वे उसकी प्राप्तिके उद्योगमे लगे रहते हैं, किन्तु विवेक बुद्धिके विना वे उसमे भ्रमको प्राप्त होते हैं। वे ससारमे विविध प्रकारके सुखोको आरोपित करते है, किन्तु सूक्ष्म अवलोकनसे यह सिद्ध है कि वह आरोप व्यर्थ है। इस आरोपको अनारोप करने वाले विरले मनुष्य विवेकके प्रकाश द्वारा अद्भुत किन्तु अन्य विषयको प्राप्त करनेके लिए कहते आये हैं। जो सुख भय-से युक्त है वह सुख नही, किन्तु दु ख है। जिस वस्तुको प्राप्त करनेमे महाताप है, जिस वस्तुके भोगनेमे इससे भी अधिक सताप है तथा परिणाममे महासताप, अनन्त शोक और अनन्त भय समाये है उस वस्तुका सुख मात्र नामका सुख है अथवा वह सुख है ही नही। ऐसा होनेसे विवेकी लोग उसमे अनुराग नही करते। ससारके प्रत्येक सुख-

से सम्पन्न राजेश्वर होनेपर भी सत्य तत्त्वज्ञानका प्रसाद प्राप्त होने-
से, उसका त्याग करके योगमें परमानन्द मानकर सत्य मनोवीरतासे
अन्य पामर आत्माओंको भर्तृहरि उपदेश देते हैं कि—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं,
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

भावार्थ—भोगमें रोगका भय है, कुलीनतामें पतन होनेका भय
है, लक्ष्मीमें राजाका भय है, मानमें दीनताका भय है, बलमें शत्रु-
का भय है, रूपसे स्त्रीको भय है, शास्त्रमें वादका भय है, गुणमे खल-
का भय है और कायापर कालका भय है, इस प्रकार सभी वस्तुएँ
भय युक्त है मात्र (संसारमे मनुष्योंको) एक वैराग्य ही अभय है !!!

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त
उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मान्य रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्व-
ज्ञानका दोहन करनेके लिए इन्होंने समस्त तत्त्ववेत्ताओके सिद्धान्त-
का रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका ज्योंका-त्यों चित्र चित्रित
कर दिया है। इन्होने जिन-जिन वस्तुओंपर भयकी छाया प्रदर्शित-
की है वे सब वस्तुये संसारमे मुख्यतया सुखरूप मानी गई हैं।
संसारका सर्वोत्तम साहित्य जो भोग है वह तो रोग का धाम ठहरा।
मनुष्य उच्च कुलमें सुख मानता है, उसमें पतनका भय दिखाया।
संसारचक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेके लिए दंडरूप लक्ष्मी है वह
राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है, किसी भी कृत्यके द्वारा यशकीर्तिसे
मानको प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी
अभिलाषा है, किन्तु इसमें महादीनता या कंगालपनका भय है। बल-
पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाहना रही है,
किन्तु उसमें भी शत्रुका भय बना हुआ है। रूप-कान्ति भोगीके लिए

Carboxylic Acid

$$RCH_2COOH \xrightarrow{Br_2,\ red\ P} RCHCOOH \xrightarrow{Br_2\ \ red\ P} R\overset{Br}{\overset{|}{C}}COOH$$

ॐ

श्रीमद् राजचन्द्र-प्रणीत

भावनाबोध-मोक्षमाला

अन्तर्गत सिन्धुबिन्दुरूप

बारह भावना और बालावबोध शिक्षापाठ

प्रकाशक

रावजीभाई छगनभाई देसाई

परमश्रुत प्रभावक मंडल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

मोहिनीरूप है, किन्तु वहाँ उसे धारण करने वाली स्त्रियाँ निरन्तर भयान्वित हैं। अनेक प्रकारसे गूँथी गई शास्त्र-जालमे विवादका भय रहा है। किसी भी मासारिक सुखका गुण प्राप्त करनेसे जो आनन्द माना जाता है वह खल मनुष्यकी निन्दाके कारण भय मे युक्त है। जिसमे अनन्तप्रियता विद्यमान है, ऐसी काया किसी-न-किसी समय कालरूपी सिंहके मुखमे जा पडेगी इस भयसे परिपूर्ण है। इस प्रकार ससारके मनोहर किन्तु चपल साहित्य-साधन भयमे भरे हुए हैं। विवेकमे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ मात्र शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

मात्र योगी भर्तृहरिने ही ऐसा कहा हो सो नही है। कालक्रमसे सृष्टिके निर्माण-समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ ऐसे असख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्य देश नही है कि जिसमे तत्त्वज्ञानियोकी बिल्कुल उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने ससारसुखकी प्रत्येक सामग्रीको शोकरूप बताया है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शकर, गौतम, पतजलि, कपिल और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोमे मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश दिया है उसका रहस्य निम्नाकित शब्दोंमे कुछ आ जाता है—

"अहो प्राणियो! ससाररूपी समुद्र अनन्त और अपार है। इसका पार पानेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!!"

ऐसा उपदेश देनेमे इनका हेतु प्रत्येक प्राणीको शोकसे मुक्त करनेका था। इन समस्त ज्ञानियोकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरके वचन सर्वत्र यही है कि ससार एकान्त और अनन्त शोकरूप तथा दुःखदायी है। अहो भव्य लोगो! इसमे मधुरमोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

सभी धर्मोंमें मुक्तिको श्रेष्ठ कहा है।

सारांश यह है कि मुक्ति अर्थात् संसारके शोकसे मुक्त होना और परिणाममे ज्ञानदर्शन आदि अनुपम वस्तुओंको प्राप्त करना। जिसमें परमसुख और परमानन्दका अखण्ड निवास है, जन्ममरणकी विडम्बनाका अभाव है, शोकका और दुःखका क्षय है, ऐसे इस वैज्ञानिक विषयका विवेचन किसी अन्य प्रसंगपर करेंगे।

यह भी निर्विवाद मानना चाहिये कि उस अनन्त शोक और अनन्त दुःखकी निवृत्ति इन्ही सांसारिक विषयोंसे नही होगी। जैसे रुधिरसे रुधिरका दाग नही जाता, परन्तु वह दाग जलसे दूर हो जाता है, इसीतरह शृंगारसे अथवा शृंगारमिश्रित धर्मसे ससारकी निवृत्ति नही होती। इसके लिए तो वैराग्य-जलकी आवश्यकता निःसंशय सिद्ध होती है और इसीलिये वीतरागके वचनोंमें अनुरक्त होना उचित है। निदान इससे विपयरूपी विषका जन्म नहीं होता। परिणामस्वरूप यही मुक्तिका कारण हो जाता है। हे मनुष्य! इन वीतराग सर्वज्ञके वचनोंको विवेक-वुद्धिसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके आत्माको उज्ज्वल कर।

प्रथम दर्शन

इसमे वैराग्यबोधिनी कुछ भावनाओंका उपदेश करेंगे। वैराग्य और आत्महितैषी विषयोंकी सुदृढ़ता होनेके लिए बारह भावनाओं का तत्त्वज्ञानियोने उपदेश किया है—

१. अनित्यभावना—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब-परिवार आदि सव विनाशीक है। जीवका केवल मूलधर्म ही अविनाशी है, ऐसा चिन्तवन करना पहली अनित्य भावना है।

२. अशरणभावना—संसारमें मरणके समय जीवको शरण रखने वाला कोई नही, मात्र एक शुभ धर्मकी शरण ही सत्य है। ऐसा चिन्तवन करना दूसरी अशरणभावना है।

ससारमे एकान्त और जो अनन्त भरपूर ताप हैं वे तीन प्रकारके कहे गये हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेके लिए प्रत्येक तत्त्वज्ञानी उपदेश करते आये हैं। ससारत्याग, शम, दम, दया, शान्ति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनोका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान—इनका सेवन करना, क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान और मिथ्यात्व—इन सबका त्याग करना यह सभी दर्शनोका सामान्य रीतिसे सार है। निम्नाकित दो चरणोमे यह सार समाविष्ट हो जाता है—

"प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार"

सचमुच ! यह उपदेश स्तुतिपात्र है। यह उपदेश देनेमे किसी-ने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। यह सब उद्देश्यकी दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई दें वैसे हैं, किन्तु सूक्ष्म उपदेशकके रूपमे श्रमणभगवान्–सिद्धार्थ राजाके पुत्र–प्रथम पदके स्वामी सिद्ध होते हैं। निवृत्तिके लिए जिन-जिन विषयोको पहले कहा है उन-उन विषयोका वास्तविक स्वरूप समझकर सर्वांश-मे मगलमय रूपमे उपदेश देनेमे यह राजपुत्र सबसे आगे बढ गये हैं। इसलिए वह अनन्त धन्यवादके पात्र हैं।

इन सभी विषयोका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है ? अब इसका निर्णय करें। सभी उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और उनका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसीलिये सर्वदर्शनोमे सामान्यरूपसे मुक्ति-को अनुपम श्रेष्ठ कहा है। 'सूत्रकृताग' के द्वितीय अगके प्रथम श्रुत-स्कन्धके छठे अध्ययनकी चौबीसवी गाथाके तीसरे चरणमे कहा है कि—

"निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा"

ऐसे गुरु और उनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिन्त-वन करना बारहवीं धर्मदुर्लभभावना है।

इसप्रकार मुक्ति साध्य करनेके लिए जिस वैराग्यकी आवश्य-कता है, उस वैराग्यको दृढ करने वाली बारह भावनाओंमेंसे कुछ भावनाओंका इस दर्शनके अन्तर्गत वर्णन करेंगे। कुछ भावनाएँ कुछ विषयोंमें बाँट दी गईं हैं और कुछ भावनाओंके लिए अन्य प्रसंगकी आवश्यकता है। इसलिये उनका यहाँ विस्तार नही किया है।

प्रथम चित्र

अनित्यभावना

(उपजाति)

विद्युत् लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जळना तरंग,
पुरंदरी चाप अनंग रंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग !

विशेषार्थ—लक्ष्मी विजलीके समान है। जिस प्रकार विजलीकी चमक उत्पन्न होकर तत्क्षण ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतगके रंगके समान है, जैसे पतंग-का रंग चार दिनकी चटक है, उसी प्रकार अधिकार केवल थोड़े काल-तक रहकर हाथसे चला जाता है। आयु पानीकी हिलोरके समान है। जैसे पानीकी हिलोरे इधर आईं और उधर निकल गईं, उसी प्रकार जन्म पाया और एक देहमें रहा, न रहा इतनेमें ही दूसरे देहमें जाना पड़ता है। काम-भोग आकाशके इन्द्रधनुषके समान है। जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकालमें उत्पन्न होकर क्षणभरमें लय हो जाता है, उसीप्रकार यौवनमें कामके विकार फलीभूत होकर बुढापेमें नष्ट हो जाते है! संक्षेपमें, हे जीव! इन सब वस्तुओंका सम्बन्ध क्षणभरका है। इसमें प्रेम-बन्धनकी साँकलसे बँधकर क्या प्रसन्न होना? तात्पर्य यह है कि ये सब चपल और विनाशीक है, तू अखण्ड और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर!

३ ससारभावना—इस आत्माने ससार-समुद्रमे पर्यटन करते-करते सभी भव धारण किये हैं। इस ससाररूपी बन्धनसे मैं कब छूटूँगा? यह ससार मेरा नही है, मैं मोक्षमय हूँ, ऐसा चिन्तवन करना तीसरी ससार भावना है।

४ एकत्वभावना—यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला ही आया है और अकेला जायगा तथा अपने किये हुए कर्मोको अकेला ही भोगेगा। इस प्रकार अन्त करणसे चिन्तवन करना यह चौथी एकत्वभावना है।

५ अन्यत्वभावना—इस ससारमे कोई किसीका नही है। ऐसा चिन्तवन करना पाँचवी अन्यत्वभावना है।

६ अशुचिभावना—यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोग और जराका निवासधाम है। इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ, यह चिन्तवन करना छठी अशुचिभावना है।

७ आश्रवभावना—राग, द्वेप, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आश्रव हैं, इसप्रकार चिन्तवन करना सातवी आश्रवभावना है।

८ सवरभावना—ज्ञान-ध्यानमे प्रवृत्त होकर जीव नये कर्म नही बाँधता, यह आठवी सवरभावना है।

९ निर्जराभावना—ज्ञानसहित क्रिया करना निर्जराका कारण है, ऐसा चिन्तवन करना नौवी निर्जराभावना है।

१० लोकस्वरूपभावना—चौदह राजू लोकके स्वरूपका विचार करना लोकस्वरूपभावना है।

११ बोधिदुर्लभभावना—ससारमे भ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है और यदि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति भी हुई तो चारित्र—सर्वविरतिपरिणामरूप धर्मका पाना तो दुर्लभ है, ऐसा चिन्तवन करना ग्यारहवी बोधिदुर्लभभावना है।

१२ धर्मदुर्लभभावना—धर्मके उपदेशक तथा शुद्धशास्त्रके बोधक

धार वर्षा होने वाली है और गर्जन-तर्जनके साथ एक जोरका कड़ाका हुआ। कड़ाकेकी प्रवल आवाजसे भयभीत होकर वह पामर भिखारी तत्काल जाग उठा। जागकर वह देखता है कि न तो वह देश है न वह नगरी। न वह भवन है, न वह पलंग, न वे चँवर-छत्र धारण करने-वाले है और न वे छड़ीदार, न वे स्त्रियोंके समूह हैं और न वे वस्त्रा-लंकार, न वे पंखे है और न वह सुगन्धित पवन, न वे अनुचर हैं और न वह आज्ञा, न वह सुखविलास है और न वह मदोन्मत्तता। वह देखता है तो जिस स्थान पर पानीका पुराना घड़ा पड़ा था उसी स्थान पर वह पड़ा हुआ है। जिस स्थान पर फटी-टूटी गुदड़ी पड़ी थी उस स्थान पर वह ज्यों-की-त्यों पड़ी है। भाई तो जैसे थे वैसे-के-वैसे दिखाई दिये। जाली-ताकवाले जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहने था वैसे-के-वैसे ही वे वस्त्र शरीरपर शोभायमान हैं। 'न राईभर घटा, न तिल भर बढ़ा!' यह सव देख कर वह अति शोकमग्न हो गया और सोचने लगा कि जिस सुखाडम्बरके द्वारा मैंने आनन्द माना, उस सुखमेसे तो यहाँ कुछ भी नही है। अरेरे! मैंने स्वप्नके भोग तो भोगे नही और मुझे वृथा ही मिथ्या खेद प्राप्त हुआ। इस प्रकार वह बेचारा भिखारी आत्मग्लानिमें पड़ गया।

प्रमाणशिक्षा—जैसे उस भिखारीको स्वप्नमें सुखसमुदाय दिखाई दिया, उसे भोगा और आनन्द माना। इसी प्रकार पामर प्राणी ससारके स्वप्नकी भाँति सुखसमुदायको महाआनन्दरूप मान वैठे है। जैसे वे सुखसमुदाय उस भिखारीको जागने पर मिथ्या प्रतीत हुए, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिके द्वारा ससारके सुख वैसे ही मालूम होते हैं। स्वप्नके भोग नही भोगे-जानेपर भी जैसे उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई, उसी प्रकार पामर भव्य जीव संसारमें सुख मान लेते है और उन्हे भोगे हुओके समान मानते है, किन्तु वे उस भिखारीकी भाँति परिणामस्वरूप खेद, पश्चात्ताप और अधो-

भिखारीका खेद

इस अनित्य और स्वप्नवत् सुखके सम्बन्धमे एक दृष्टान्त दे रहे हैं—

एक पामर भिखारी जगलमे भटकता फिरता था। वहाँ उसे भूख लगी। इसलिये वह विचारा लडखडाता हुआ एक नगरमे एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारसे गिडगिडाहट की। उसकी चिरौरीपर करुणा करके उस गृहस्थकी स्त्रीने उसको घरमे जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न लाकर दिया। ऐसे भोजनके मिलनेसे भिखारी बहुत आनदित होता हुआ नगरके बाहर आया और एक वृक्षके नीचे बैठ गया। वहाँ जरा साफ करके उसने एक ओर बहुत पुराना अपना पानीका घडा रख दिया। एक ओर अपनी फटी-पुरानी गुदडी रखी और दूसरी ओर वह स्वय उस भोजनको लेकर बैठा। खुशी-खुशी उसने उस अभूतपूर्व भोजनको खाकर पूरा किया। तत्पश्चात् सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे थोडी ही देरमे भिखारीकी आँखें मिच गई। वह निद्राके वश हुआ कि इतनेमे उसे एक स्वप्न आया। उसे ऐसा लगा कि मानो स्वय महाराजऋद्धि पाया है इसलिये उसने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हैं, समस्त देशमे उसकी विजयका डका बज गया है, समीपमे उसकी आज्ञा उठानेके लिए अनुचर लोग खडे हुए हैं, आस-पास मे छडीदार 'क्षेमक्षेम' ('खमा खमा') पुकार रहे हैं। वह एक रमणीय महलमे सुन्दर पलग पर लेटा हुआ है, देवागना जैसी स्त्रियाँ उसके पैर दबा रही है, एक ओरसे मनुष्य पखेसे सुगन्धित पवन ढोल रहे हैं, इस प्रकार उसे अपूर्व सुखकी प्राप्तिवाला स्वप्न दिखाई दिया। स्वप्नावस्थामे उसके रोमाच उल्लसित हो गये। वह ऐसा मानने लगा कि जैसे वह वास्तवमे वैसा सुख भोग रहा है। इतनेमे सूर्यदेव बादलोमे ढक गया, बिजली कौंधने लगी, मेघराजा चढ आये, सर्वत्र अधकार व्याप्त हो गया और ऐसा दिखाई देने लगा कि अब मूसला-

मान थे, नाना प्रकारकी कोमल वल्लरियाँ घटाटोप (सघनरूपमें) छाई हुई थी, नाना प्रकारके पक्षी आनन्दसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनाई पड़ते थे, नाना प्रकारके फूलोसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ वहते थे; संक्षेपमे, वह वन सृष्टि सौन्दर्यके प्रदर्शनरूप होनेसे नन्दनवनकी समानता रखता था। उस वनमें एक वृक्षके नीचे महासमाधिवंत किन्तु सुकुमार और सुखोचित मुनिको वैठे हुए उस श्रेणिकने देखा। उनका रूप देखकर उस राजाको अत्यन्त आनन्द हुआ। उनके अनुपमेय रूपसे विस्मित होकर वह मन-ही-मन उनकी प्रशंसा करने लगा। अहो! इन मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! अहो! कैसा मनोहर रूप है! अहो! इस आर्यकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! अहो! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाके धारक है! अहो! इनके अंगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा है! अहो! इनकी कैसी निर्लोभता दीखती है! अहो! यह संयति कैसी निर्भय, अप्रभुत्व नम्रता धारण किये हुए है! अहो! इनकी भोगसे कैसी प्रवल विरक्ति है! इस प्रकार चिंतवन करते-करते, आनन्दित होते-होते, स्तुति करते-करते, धीरे-धीरे चलते हुए प्रदक्षिणा देकर उन मुनिको वन्दन कर, न अति समीप और न अति दूर, वह श्रेणिक वैठा। वादमें दोनों हाथोंको जोड़कर विनयसे उसने उन मुनिसे पूछा, "हे आर्य! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं; भोग-विलासके लिए आपकी वय अनुकूल है; संसारमें नानाप्रकारके सुख विद्यमान हैं; ऋतु-ऋतुके काम-भोग, जल सम्वन्धी विलास तथा मनोहारिणी स्त्रियोंके मुख-वचनोंका मधुर श्रवण होते हुए भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमें आप महाउद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण है? यह मुझे अनुग्रह करके कहिये।" राजाके वचनोंका ऐसा भाव सुनकर मुनिने कहा—"मै अनाथ था! हे राजन्! मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानेवाला, योगक्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकम्पा लानेवाला, करुणासे परम-सुखको देनेवाला लेशमात्र भी

गतिको प्राप्त होते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नही, उसी प्रकार ससारकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नही। दोनो चपल और शोकमय हैं, ऐसा विचार करके बुद्धिमान् पुरुष आत्मश्रेयकी शोध करते हैं।

इस प्रकार श्री 'भावनाबोध' ग्रथके प्रथम दर्शनका प्रथम चित्र 'अनित्य भावना' इस विषय पर दृष्टान्त सहित वैराग्योपदेशार्थ समाप्त हुआ।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

(उपजातिछन्द)

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी,
अनाथ एकात सनाथ थाशे, एना विना कोई न बाह्य स्हाशे।

विशेषार्थ—हे चेतन! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निस्पृहतासे उपदेश किये हुए धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर मन, वचन और कायाके प्रभावसे उसका तू आराधन कर, आराधना कर! तू केवल अनाथरूप है, सो सनाथ होगा। इसके विना भवाटवीरूप-भ्रमणमे तेरी बाँह पकडनेवाला कोई नही है।

जो जीव ससारके मायामय सुखको अथवा अवदर्शनको शरण-रूप मानते हैं, वे अधोगतिको पाते हैं और सदैव अनाथ रहते हैं, ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान् अनाथी मुनिके चरित्रको [यहाँ] प्रारम्भ करते है, इससे अशरणभावना सुदृढ होगी।

अनाथी मुनि

दृष्टान्त—अनेक प्रकारकी लीलाओंसे युक्त मगधदेशका राजा श्रेणिक अश्वक्रीडाके लिए मंडिकुक्ष नामक वनमे निकल पड़ा। वन-की विचित्रता मनोहारिणी थी। वहाँ नाना प्रकारके तरुकुंज विद्य-

"कौशाम्वी नामक अतिजीर्ण और विविध प्रकारके भेदोंको उत्पन्न करनेवाली एक सुन्दर नगरी है। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसंचय नामक मेरे पिता रहते थे। प्रथम यौवनावस्थामें, हे महाराजा! अतुल्य और उपमारहित मेरी आँखोंमें वेदना उत्पन्न हुई तथा दुःख-प्रद दाहज्वर सम्पूर्ण शरीरमें प्रवर्तमान हुआ। शस्त्रसे भी अति तीक्ष्ण वह रोग शत्रुकी भाँति मुझपर कुपित हो गया। आँखोंकी उस असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। इन्द्रके वज्रप्रहार जैसी और दूसरे-को भी रौद्रभय उत्पन्न करनेवाली उस अत्यन्त परम दारुण वेदनासे मै बहुत दुःखी था। शारीरिक-विद्यामे निपुण और अनन्य मंत्रमूलके ज्ञाता वैद्यराज मेरी उस वेदनाको दूर करनेके लिए आये, अनेक प्रकारके औषधोपचार किये; किन्तु वे सब व्यर्थ हुए। वे महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त नही कर सके। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी आँखोकी वेदनाको दूर करने-के लिए मेरे पिताने सम्पूर्ण धन देना प्रारम्भ किया, किन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नही हुई। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी माता पुत्रके दुःखमें अत्यन्त दुःखार्त थी किन्तु वह भी मुझे उस रोगसे मुक्त नही करा सकी। हे महाराजा! यही मेरा अनाथपना था। मेरे सहोदर बड़े और छोटे भाई भी जितना बन सका वह सब परिश्रम कर चुके किन्तु मेरी वेदना दूर नहीं हुई। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी सहोदरा बड़ी और छोटी बहिनोंसे भी मेरा दुःख दूर नही हुआ। हे महाराजा! यही मेरा अनाथपना था। मेरी पतिव्रता स्त्री जो कि मुझपर अनुरक्त और प्रेम-वती थी वह आँखोंमें आँसू भरकर मेरे हृदयको सीचती और भिगोती थी। अन्न, जल और विविध प्रकारके स्नान-उबटन, चूवा आदिक सुगन्धित द्रव्य तथा अनेक प्रकारके फूल चन्दनादिकके विलेपन जाने-अनजाने किये, फिर भी मै उस यौवनवती स्त्रीको नहीं भोग सका। मेरे पाससे क्षणभरको भी अलग न रहनेवाली और मुझे छोड़कर

मेरा कोई मित्र नही हुआ। यह कारण मेरे अनाथीपनेका था।"

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे किंचित् हँसे और बोले—"अरे! आप जैसे महाऋद्धिवान्‌के नाथ क्यो नही हो? लीजिये, यदि कोई नाथ नही तो मै होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोग भोगिये। हे सयति! मित्र! जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्य भवको सुलभ कीजिये!"

अनाथीने कहा—किन्तु हे श्रेणिक, मगध देशके राजा! तू स्वय अनाथ है, फिर मेरा नाथ क्या बनेगा? जो निर्धन है वह धनाढच कहाँसे बनायेगा? अवुधजीव बुद्धिदान कहाँसे देगा? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे देगा? वन्ध्या सन्तान कहाँसे देगी? जव तू स्वय अनाथ है तो मेरा नाथ क्योकर बनेगा?

मुनिके इन वचनोसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। इससे पूर्व कभी जो वचन नही सुने थे ऐसे वचन यतिके मुखसे सुनकर वह शकाग्रस्त हो गया। "मै अनेक प्रकारके अश्वोका और अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोका स्वामी हूँ, अनेक प्रकारकी सेना मेरे आधीन है, नगर, ग्राम, अन्त पुर और चतुष्पदोकी मेरे कोई कमी नही है, मनुष्य सम्वन्धी सभी प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हैं, अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति पालन करते है, मेरे यहाँ पाँचो प्रकारकी सम्पत्ति विद्यमान है, समस्त मनोवाछित वस्तुएँ मेरे पास है। मै ऐसा जाज्वल्यमान होते हुए भी अनाथ कैसे हो सकता हूँ? कदाचित् हे भगवन्! आपने मिथ्या कहा हो!"

मुनिराजने कहा, "हे राजन्! मेरे कहे गये अर्थकी उपपत्तिको तूने ठीकसे नही समझा। तू स्वय अनाथ है, किन्तु उस सम्वन्धमे तुझे पता नही, अव मै जो कहता हूँ उसे अव्यग्र और सावधान मनसे सुन, सुननेके बाद फिर अपनी शकाका सत्यासत्य निर्णय करना। मैने स्वय जिस अनाथपनके कारण मुनित्वको अगीकार किया है वह मैं सर्वप्रथम तुझे कहता हूँ।

का अनाथपना कह वताया। इसके वाद श्रेणिक राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और वह दोनों हाथकी अञ्जलि वाँधकर यों वोला कि—"हे भगवन्! आपने मुझे भली-भाँति उपदेश दिया है। आपने जैसा था वैसा अनाथपन कह वताया। हे ऋपिराज! आप सनाथ है, सवान्धव हैं और सधर्म है। आप सभी अनाथोंके नाथ है। हे पवित्र सयति! मै क्षमा-याचना करता हूँ और आपकी ज्ञानरूपी शिक्षाका इच्छुक हूँ। धर्मध्यानमें विघ्नकारक भोग भोगनेके सम्वन्धमें हे महाभाग्यवन्त! मैंने जो आपको आमंत्रण दिया, उस सम्वन्धमें अपने अपराधको मस्तकपर धारण करके क्षमा-याचना करता हूँ।" इस प्रकार स्तवन करके वह राजपुरुपकेसरी परमानन्दको पाते हुए रोमांचित होकर प्रदक्षिणापूर्वक सविनय वन्दना करके अपने स्थान को चला गया।

प्रमाण शिक्षा—अहो भव्यो! महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान, महायशस्वी, महानिर्ग्रन्थ और महाश्रुत, अनाथी मुनिने मगध देशके राजा श्रेणिकको अपने वीते हुए अनुभूत चरित्रसे जो वोध दिया वह सचमुच ही अशरणभावनाको सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की गई वेदनाओके समान अथवा इससे भी अधिक असह्य दु:ख अनन्त आत्माओंको सामान्य दृष्टिसे भोगते हुए देखते है। उसके सम्वन्धमें तुम कुछ विचार करो। संसारमें आच्छादित अनन्त अशरणताका त्याग करके सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो। अन्तमें यही मुक्तिका कारणरूप है। जैसे संसारमें रहते हुए अनाथी अनाथ थे, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके विना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिए पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

इति श्री 'भावनावोध' ग्रन्थके प्रथम दर्शनके द्वितीय चित्रमे 'अशरण-भावना'के उपदेशहेतु महानिर्ग्रंथका चरित्र समाप्त हुआ।

●

क्षणभरको भी अन्यत्र न जानेवाली मेरी स्त्री भी, हे महाराज! मेरे रोगको दूर नही कर सकी। यही मेरा अनाथपना था। इस प्रकार किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे अथवा किसीके परिश्रमसे मेरा वह रोग शान्त नही हुआ और मैंने उस समय बार-बार असह्य वेदना भोगी। तत्पश्चात् मुझे अनन्त संसारके प्रति खेद उत्पन्न हुआ और मैं विचार करने लगा कि, "यदि मैं एकबार इस महा विडम्बनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खती, दती और निरारम्भी प्रव्रज्याको धारण करूँ।" और ऐसा विचार करता हुआ मैं सो गया। जब रात व्यतीत हो गई तब हे महाराज! मेरी वह वेदना क्षय हो गई और मैं निरोगी हो गया। तब मैंने माता, पिता और स्वजन-बान्धव आदिसे पूछकर प्रातःकाल महाक्षमावन्त, इन्द्रिय-निग्रही और आरम्भोपाधिसे रहित अनगारत्वको धारण कर लिया। तत्पश्चात् मैं आत्मा-परमात्माका नाथ हुआ। अब मैं सब प्रकारके जीवोंका नाथ हूँ।" इस प्रकार अनाथी मुनिने श्रेणिक राजाके मनपर अशरण-भावना दृढ कर दी। अब दूसरा अनुकूल उपदेश उसे देते है।

"हे राजन्! यह अपना आत्मा ही दुखोंसे भरी हुई वैतरणीका करने वाला है। अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दुखोंको उत्पन्न करने वाला है। अपना आत्मा ही मनोवाछित वस्तुरूपी दुधारू कामधेनु गायके सुखको उत्पन्न करने वाला है। अपना आत्मा ही नन्दनवनकी भाँति आनन्दकारी है। अपना आत्मा ही कर्मको करनेवाला है। अपना आत्मा ही उस कर्मको टालने वाला है। अपना आत्मा ही दुःखोपार्जन करने वाला है। अपना आत्मा ही सुखोपार्जन करने वाला है। अपना आत्मा ही मित्र और अपना आत्मा ही शत्रु है। अपना आत्मा ही जघन्य आचारमें स्थित और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमें स्थित रहता है।" यह और इसी प्रकार अन्य प्रकारसे उस अनाथी मुनिने श्रेणिक राजाके प्रति संसार-

नमिराज—(गौरव भरे वचनों से) हे विप्र ! जो तू कहता है वह केवल अज्ञानरूप है। मिथिला नगरीमें एक वगीचा था, उसके वीचमें एक वृक्ष था, वह शीतल छायासे युक्त रमणीय था, वह पत्र, पुष्प और फलोंसे युक्त था और वह नाना प्रकारके पक्षियोंको लाभ-कारक था। इस वृक्षके वायु द्वारा कम्पित होनेसे वृक्षमें रहनेवाले पक्षी दुःखार्त और शरणरहित होनेसे आक्रन्दन करते है। ये पक्षी स्वयं वृक्षके लिए विलाप नहीं कर रहे है, किन्तु वे अपने सुखके नष्ट होनेके कारण ही शोकसे पीड़ित है।

विप्र—परन्तु यह देख ! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरा अन्तःपुर और मन्दिर जल रहे हैं, इसलिये वहाँ जा और उस अग्निको शान्त कर।

नमिराज—हे विप्र ! मिथिला नगरीके उन अन्तःपुर और उन मन्दिरोंके जलनेसे मेरा कुछ भी नही जलता है। जैसे सुखोत्पत्ति है वैसे ही मै प्रवृत्त हूँ। इन मन्दिर आदिमें मेरा अल्पमात्र भी राग नही है। मैने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड़ दिया है। मुझे इनमेंसे कुछ भी प्रिय नहीं है और कुछ अप्रिय भी नही है।

विप्र—किन्तु हे राजन् ! तू अपनी नगरीका सघन किला वनवा कर मोहल्ले, कोठे, किवाड़, सॉकल (अर्गला) आदि वनवा कर और शतघ्नी खाई वनवा कर वादमें जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे विप्र ! मै शुद्ध-श्रद्धारूपी नगरी वना कर, संवररूपी चटकनी, अर्गला वनवा कर, क्षमारूपी गु[illegible]ला वनाऊँगा। शुभ मनोयोगरूपी कोठे वनाऊँगा, वचनयोगरूपी खाई वनाऊँगा, काययोगरूपी शतघ्नी करूँगा, परा-क्रमरूपी धनुष चढ़ाऊँगा, ईर्यासमितिरूपी डोरी लगाऊँगा, धीरजरूपी कमान पकड़नेकी मूठ वनाऊँगा, सत्यरूपी चापसे धनुषको वाँधूँगा, तपरूपी वाण वनाऊँगा और कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाका भेदन करूँगा।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

(नमिराजर्षि)

क्या प्रयोजन है ? ज्ञानरूपी आत्माके द्वारा क्रोधादि युक्त आत्माको जीतनेवाला स्तुतिपात्र है। पाँचों इन्द्रियोंको, क्रोधको, मानको, माया-को और लोभको जीतना दुष्कर है। जिसने मनोयोगादिको जीता उसने सव कुछ जीता।

विप्र—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे क्षत्रिय ! समर्थ यज्ञ करके, श्रमण, तपस्वी और ब्राह्मण आदिको भोजन देकर, सुवर्ण आदिका दान देकर, मनोज्ञभोगोंको भोगकर तू फिर वादमें जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) प्रतिमास जो दस लाख गायोंका दान दे तो भी उस दस लाख गायोके दानकी अपेक्षा संयम ग्रहण करके संयमकी आराधना करता है वह विशेप मंगलको प्राप्त होता है।

विप्र—निर्वाह करनेके लिए भिक्षावृत्तिके कारण सुशील प्रव्र-ज्याके धारण करनेमें असह्य परिश्रम उठाना पड़ता है। तव वहाँ उस प्रव्रज्याको छोड़कर अन्य प्रव्रज्या (के धारण करने) में रुचि होती है, इसलिये इस उपाधिको दूर करनेके लिए तू गृहस्थ आश्रममें रह-कर ही पौपध आदि व्रतोंमें तत्पर रहना। हे मनुष्याधिपति ! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे विप्र ! वाल अविवेकी चाहे जैसे उग्र तप करे, परन्तु वह सम्यक् श्रुत धर्म तथा चारित्र धर्मके तुल्य नही हो सकता। एकाध कला सोलह कलाओंके समान कैसे मानी जा सकती है ?

विप्र—हे क्षत्रिय ! सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वस्त्रालंकार और अश्वादिककी करनेके वाद जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) यदि मेरु पर्वतके समान सोने-चाँदीके असंख्यात पर्वत हों तो भी लोभी मनुष्यकी तृष्णा नही वुझती, वह किंचित् मात्र भी सन्तोषको प्राप्त नहीं होता। तृष्णा आकाशके समान अनन्त है। यदि धन सुवर्ण और पशु इत्यादि

मुझे लौकिक सग्रामकी रुचि नही है, मै केवल ऐसे भावसग्रामको चाहता हूँ।

विप्र—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे राजन्! शिखर-बन्ध ऊँचे प्रासाद वनवा कर मणि-काचनमय झरोखे आदि लगवा कर, तालावमे क्रीडा करनेके मनोहर महालय वनवा कर फिर जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) तूने जिस-जिस प्रकारके महल गिनाये हैं वे सव महल मुझे अस्थिर और अशाश्वत जान पडते हैं। वे मार्गमे वने हुए घर (सराय) के समान मालूम होते हैं। इसलिए जहाँ स्वधाम है, जहाँ शाश्वतता है और जहाँ स्थिरता है वहाँ मै निवास करना चाहता हूँ।

विप्र—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे क्षत्रिय शिरोमणि! अनेक प्रकारके चोरोंके उपद्रवोको दूर कर, इसके द्वारा नगरीका कल्याण करके तू जाना।

नमिराज—हे विप्र! अज्ञानी मनुष्य अनेक वार मिथ्या दड देते हैं। चोरीके नही करनेवाले शरीरादिक पुद्गल लोकमे वाँधे जाते हैं और चोरीके करनेवाले जो इन्द्रिय-विकार उन्हे कोई नही वाँध सकता। तव फिर ऐमा करनेकी क्या आवश्यकता है?

विप्र—हे क्षत्रिय! जो राजा तेरी आज्ञाका पालन नही करते और जो नराधिप स्वतत्रतासे प्रवृत्ति करते हैं तू उन्हे अपने वशमे करके वादमे जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) दस लाख सुभटोको सग्राममे जीतना दुर्लभ गिना जाता है, फिर भी ऐसे विजेता (विजयको प्राप्त करनेवाले) पुरुप अनेक मिल जायँ, किन्तु एक स्वात्माको जीतनेवालेका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। उन दस लाख सुभटोपर विजय प्राप्त करनेवालेकी अपेक्षा एक स्वात्माको जीतनेवाला पुरुप परमोत्कृष्ट है। आत्माके साथ युद्ध करना उचित है। वाह्य-युद्धका

भता। हे पूज्य ! तू इस भवमें उत्तम है और परभवमें भी उत्तम होगा। तू कर्मरहित होकर सर्वोच्च सिद्ध गतिको प्राप्त करेगा।" इस प्रकार स्तुति करते-करते, प्रदक्षिणा देते-देते श्रद्धा-भक्तिसे उसने उन ऋषिराजके चरण-कमलोंमें वन्दना की। तत्पश्चात् वह सुन्दर मुकुट वाला शक्रेन्द्र आकाश-मार्गसे चला गया।

प्रमाण-शिक्षा—विप्रके रूपमें नमिराजके वैराग्यकी परीक्षा करनेमें इन्द्रने क्या कसर रखी है ? कुछ भी नही। संसारकी जो-जो लोलुपताये मनुष्यको चलायमान करनेवाली है, उन-उन लोलुपताओंके सम्वन्धमें महागौरवपूर्ण प्रश्न करनेमें उस इन्द्रने निर्मल-भावसे प्रशंसनीय चतुराई दिखाई है। फिर भी देखनेकी वात तो यह है कि नमिराज केवल कंचनमय रहे है और अपने शुद्ध तथा अखण्ड वैराग्यके वेगका वहन उन्होंने उत्तरमें दर्शित किया है।

"हे विप्र ! तू जिन-जिन वस्तुओको मेरी कहलवाता है वे वस्तुएँ मेरी नही है। मै मात्र अकेला—एक ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ और मात्र प्रशंसनीय एकत्वको ही चाहता हूँ।" ऐसे रहस्यमें नमिराज अपने उत्तरको और वैराग्यको दृढ़ीभूत करते गये है, उन महर्षिका चरित्र ऐसी परम प्रमाण-शिक्षासे भरा हुआ है। दोनों महात्माओंका पारस्परिक संवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करने तथा अन्य वस्तुओंका त्याग करनेके उपदेशके लिए यहाँ दिखाया गया है। इसे भी विशेष दृढ़ीभूत करनेके लिए नमिराजने एकत्व कैसे प्राप्त किया इस सम्वन्ध में नमिराजके एकत्व सम्वन्धको संक्षेपमें कहते है।

वह विदेह देश जैसे महान् राज्यके अधिपति थे। वे अनेक यौवनवती मनोहारिणी स्त्रियोके समुदायसे घिरे हुए थे। दर्शन मोहनीयका उदय न होते हुए भी वे संसार-लुब्ध जैसे दिखाई देते थे। किसी समय उनके शरीरमे दाह-ज्वर नामक रोग उत्पन्न हुआ। उससे सारा शरीर मानो जल रहा हो ऐसी जलन व्याप्त हो गई। रोम-

से समस्त लोक भर जाय तो भी वह सब लोभी मनुष्यकी तृष्णाको दूर करनेमे समर्थ नही है। लोभकी ऐसी कनिष्ठता है। इसलिए विवेकी पुरुप सन्तोप-निवृत्तिरूप तपका आचरण करते है।

विप्र—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे क्षत्रिय! मुझे अद्भुत आश्चर्य होता है कि तू विद्यमान भोगोको छोड रहा है और फिर अविद्यमान कामभोगके सम्वन्धमे सकल्प-विकल्प करके पतित होगा, इसलिये यह सब मुनित्व सम्वन्धी उपाधिको छोड।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) कामभोग शल्यके समान हैं, कामभोग विपके समान है, कामभोग सर्पके समान हैं, इनकी वाछा करनेसे जीव नरकादिक अधोगतिमे जाता है, इसी प्रकार क्रोध और मानके कारण दुर्गति होती है, मायाके द्वारा सद्-गतिका विनाश होता है, लोभके द्वारा इस लोक और परलोकका भय उपस्थित होता है, इसलिए हे विप्र! तू इसका मुझे उपदेश मत कर। मेरा हृदय कभी भी चलायमान होनेवाला नही है और इस मिथ्या मोहिनीमे अभिरुचि रखनेवाला नहीं है। जान-वूझकर विप-पान कौन करे? जान-वूझकर दीपक लेकर कुएँमे कौन गिरे? जान-वूझकर विभ्रममे कौन पडेगा? मैं अपने अमृत जैसे वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस विपको प्रिय करनेके लिए मिथिलामे आनेवाला नही हूँ।

महर्पि नमिराजकी सुदृढता देखकर शक्रेन्द्रको परमानन्द हुआ। पश्चात् ब्राह्मणके रूपको छोडकर इन्द्रपनेकी विक्रिया धारण की। फिर वह वन्दना करके मधुर वचनोंके द्वारा उन राजर्पीश्वरकी स्तुति करने लगा कि—"हे महायशस्वी! वडा आश्चर्य है कि तूने क्रोधको जीत लिया, अहकारको हराया, आश्चर्य, मायाको दूर किया, आश्चर्य, तूने लोभको वशमे किया। आश्चर्यकारक हैं तेरी सरलता, तेरा निर्ममत्व, तेरी क्षमा प्रधानता और आश्चर्यकारी है तेरी निर्लो-

और उसका मनन शुरू हो गया। "चेतन जी! बहुतोंके मिलनेमें बहुत उपाधि होती दीखती है। अब देख, इस एक कंगनमें किंचित् मात्र भी कोलाहल नहीं होता, पहले कंगनोंके समूहमें सिर चकरा देनेवाला कोलाहल होता था। अहो चेतन! तू मान कि एकत्वमें ही सिद्धि है। अधिक मिलनेसे अधिक उपाधि है। संसारमें अनन्त आत्माओंके सम्बन्धमें तुझे उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकता है? उसका त्यागकर और एकत्वमें प्रवेश कर। देख! अब यह एक कंगन शोरगुलके बिना कैसी उत्तम शान्तिमें रम रहा है? जब अनेक थे तब यह कैसी अशान्ति भोग रहा था? इसी प्रकार तू भी कंगनरूप है। जबतक तू भी उस कंगनकी भाँति स्नेही-कुटुम्बीजनरूपी कंगन समुदायमें पड़ा रहेगा तबतक भवरूपी कोलाहलका सेवन करना पड़ेगा और यदि तू इस कंगनकी वर्तमान स्थितिकी भाँति एकत्वका आराधन करेगा तो सिद्धगतिरूपी महापवित्र शान्तिको प्राप्त करेगा।" इस प्रकार वैराग्यके उत्तरोत्तर प्रवेशसे उन नमिराजको पूर्वभवका स्मरण हो आया। वे प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके सो गये। प्रभातमें मांगल्यरूप बाजोंकी ध्वनि विस्तरी; नमिराज दाहज्वरसे मुक्त हुए। एकत्वका परिपूर्ण सेवन करने वाले श्री नमिराजर्षिको अभिवन्दन हो!

(शार्दूलविक्रीडित)

राणी सर्व मळी सुचन्दन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां ककळाट कंकणतणो, श्रोती नमिभूपति।
संवादे पण इन्द्रथी दृढ़ रह्यो, एकत्व साचुं कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ, सम्पूर्ण अत्रे थयुं॥

विशेषार्थ—रानियोंका समुदाय चंदन घिसकर विलेपन करनेमें लगा हुआ था; उस समय कंकणोंका कोलाहल सुनकर नमिराजको

प्रकाशकीय

'श्रीमद् राजचन्द्र' वचनामृतका हिन्दी भाषान्तर श्री० पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, ललितपुर द्वारा हो रहा है, जिसके पूर्ण होनेमें अभी पर्याप्त समय लग जाना संभव है। उसमेंसे आरम्भिक 'मोक्षमाला' का भाषान्तर पहले छप जाय तो हिन्दी-भाषी जिज्ञासुओंकी माँगको संतोष मिले, इसी हेतुसे इस 'मोक्षमाला' की हिन्दी आवृत्ति आश्रमके ज्ञान-खातेसे प्रगट करके मुमुक्षुओंके कर-कमलोंमें रखते हुए हमें अति आनन्द होता है।

'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थका हिन्दी भाषान्तर कराकर प्रगट करनेके सत्श्रुत-प्रचाररूप अति उपयोगी एवं प्रशंसनीय कार्यमें वाकानेर-निवासी स्व० श्री केशवलाल लीलाधर गांधीकी इच्छानुसार उनके सुपुत्र श्री हसमुखलाल केशवलाल गांधी द्वारा ६००१) रुपयेकी उदार भेंट आश्रमके परमश्रुतप्रभावक मण्डल-विभागको मिली है, अतः सत्श्रुतके प्रति उनके इस प्रेम, आदर और भक्तिभावके लिए हम उनका अत्यन्त आभार मानते हैं। आशा है उन्हें भी वचनामृतके प्रारम्भिक-भागरूप इस प्रकाशनसे अवश्य सन्तोष होगा।

इस प्रकाशनमें आहोर-निवासी श्रीमती मोतीबेन फूलचन्दजी वन्दाकी ओरसे ५०१) रुपये प्राप्त हुए हैं, इसके लिए उनका भी हम आभार मानते हैं।

सत-सेवक

रावजीभाई देसाई

ईस्वी सन्
१९७०

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी।

हो रही थी, जिसके ख़जानेमें विद्वानों द्वारा चंचला उपमासे वर्णन की हुई समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी स्थिर हो गई थी, जिसकी आज्ञाको देव-देवांगनायें आधीन होकर अपने मुकुट पर चढ़ा रहे थे, जिसके भोजनके लिए नानाप्रकारके षट्रस व्यंजन पल-पलमें निर्मित होते थे, जिसके कोमल कर्णके विलासके लिए पतले और मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारांगनायें तत्पर रहती थीं; जिसके निरीक्षण करनेके लिए अनेक प्रकारके नाटक-तमाशे विद्यमान थे; जिसकी यशः-कीर्ति वायुरूपसे प्रसरकर आकाशके समान व्याप्त हुई थी;-जिसके शत्रुओंको सुखसे शयन करनेका समय न आया था, अथवा जिसके वैरियोंकी वनिताओंके नयनोंसे सदा आँसू ही टपकते रहते थे; जिससे कोई शत्रुता दिखानेको तो समर्थ था ही नहीं, परन्तु जिसके सामने निर्दोपतासे उँगली दिखानेमें भी कोई समर्थ न था; जिसके समक्ष अनेक मंत्रियोका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था; जिसके रूप, कांति और सौन्दर्य मनोहारक थे; जिसके अंगमें महान् बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे; जिसके क्रीडा करने-के लिए महासुगन्धिमय बाग-बगीचे और वन-उपवन बने हुए थे; जिसके यहाँ मुख्य कुलदीपक पुत्रोंका समूह था; जिसकी सेवामें लाखों अनुचर सज्ज होकर खड़े रहा करते थे; वह पुरुष जहाँ-जहाँ जाता था वहाँ-वहाँ क्षेम-क्षेम (खमा, खमा) के उद्गारोंसे, कंचनके फूल और मोतियोंके थालसे बधाई दी जाती थी; जिसके कुंकुमवर्णी चरण-कमलोंका स्पर्श करनेके लिए इन्द्र जैसे भी तरसते थे, जिसकी आयुध-शालामें महायशोमान् दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी; जिसके यहाँ साम्राज्यका अखण्ड दीपक प्रकाशमान था; जिसके सिर पर महान् छह खण्डकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधन-सामग्रीका, जिसके दल-का, जिसके नगर, पुर और पट्टनका, जिसके वैभवका, जिसके विलास-

रोममे हजार विच्छुओकी दश-वेदनाके समान दु ख उत्पन्न हो गया। वैद्य-विद्यामे प्रवीण पुरुषोंके औपधोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया, किन्तु वह सव व्यर्थ गया, किंचित् मात्र भी वह व्याधि कम न होकर अधिक बढती ही गई, प्रत्येक औपधि मानो दाह-ज्वरकी हितैपिणी होती गई। कोई भी औपधि ऐसी नही मिली कि जिसे दाहज्वरमे किंचित् भी द्वेप हो! निपुण वैद्य हताश हुए और राजेश्वर भी उस महाव्याधिसे ऊव गया। उसे दूर करनेवाले पुरुपकी खोज चारो ओर होने लगी। अन्तमे एक महाकुशल वैद्य मिला, उसने मलयागिरि चन्दनका लेप करना वताया। मनोरमा रानियाँ उस चन्दनके घिसनेमे लग गई। चन्दन घिसनेकी उस क्रियासे हाथोमे पहना हुआ कगन-समुदाय प्रत्येक रानीके पास कोलाहल करने लग गया। मिथिलेशके अगमे दाहज्वरकी एक असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी कगनोंके उस कोलाहलसे उत्पन्न हुई। कोलाहलको सहन नही कर सके तो उन्होने रानियोको आज्ञा दी कि तुम चदन मत घिसो, क्यो कोलाहल करती हो? मुझसे यह कोलाहल सहन नही हो सकता। एक तो मै (दाह ज्वरकी) महाव्याधिसे ग्रसित हूँ, ऊपरसे यह दूसरा व्याधिकारक कोलाहल होता हे जो (मेरे लिए) असह्य हे। तव समस्त रानियोने एक-एक कगन मगलस्वरूप रखकर शेप कगन उतार दिये। जिससे वह कोलाहल शान्त हो गया। तव नमिराजने रानियोंसे पूछा—"क्या तुमने चन्दन घिसना बन्द कर दिया?" रानियोने उत्तर दिया कि—"नही, मात्र कोलाहल शान्त करनेके लिए एक-एक ही कगन रखकर शेप ककणोका परित्याग करके हम चन्दन घिस रही हैं। अव हमने ककणोंके समूहको अपने हाथमे नही रखा इसलिए कोलाहल नही होता।" रानियोके इतने वचन सुनकर नमिराजके रोम-रोममे एकत्व सिद्ध हुआ—एकत्व व्याप्त हो गया

"अहो हो! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूट-पीटकर कुशलतापूर्वक घड़नेसे मुद्रिका वनी, इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुन्दर दिखाई दी, इस उँगलीमें-से इस मुद्रिकाके निकल जानेसे विपरीत ही दृश्य दिखाई दिया। विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और नग्नता खेदका कारण हुआ। अशोभ्य प्रतीत होनेका कारण केवल अँगूठीका न होना ही ठहरा न? यदि अँगूठी होती तव तो मैं ऐसी अशोभा न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई; इस उँगलीसे यह हाथ शोभित होता है; इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है, फिर इसमें मैं किसकी शोभा मानूं? वड़े आश्चर्यकी वात है! मेरी इस मानी जानेवाली मनोहर कांतिको और भी विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि-माणिक्य अलंकार और रंगविरंगे वस्त्र ही सिद्ध हुए, यह कांति मेरी त्वचाकी शोभा सिद्ध हुई; यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढककर सुन्दरता दिखाती है; अहो हो! यह महाविपरीतता है! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ, वह शरीर केवल त्वचासे, वह त्वचा कान्तिसे, और वह कान्ति वस्त्रालंकारसे शोभित होती है; तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नही? क्या यह केवल रुधिर, माँस, हाड़ोंका ही घोंसला है? और इस घोंसलेको ही मै सर्वथा अपना मान रहा हूँ, कैसी भूल! कैसी भ्रमणा! और कैसी विचित्रता है। मै केवल पर पुद्गलकी शोभासे ही शोभित हूँ। किसी अन्यसे रमणीयता धारण करनेवाले इस शरीरको मैं अपना कैसे मानूं? और कदाचित् ऐसा मानकर मैं इसमें ममत्वभाव रखूँ तो वह भी केवल दु.खप्रद और वृथा है। मेरे इस आत्माका इस शरीरसे कभी-न-कभी वियोग होने ही वाला है। जब आत्मा दूसरे देहको धारण करनेके लिए गमन करेगा तव इस देहके यही पड़े रहनेमें कोई शंका नही है। यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मै इसे अपनी मानता हूँ अथवा मानूँ यह केवल मूर्खता है। जिसका एक समय वियोग होनेवाला है और जो केवल

बोध प्राप्त हुआ। वे इन्द्रके साथ सवादमे भी अचल रहे और एकत्व-को सिद्ध किया।

ऐसे इन मुक्तिसाधक महावैरागी मिथिलेशका चरित्र 'भावनावोध' ग्रथके तृतीय चित्रणमे पूर्ण हुआ।

चतुर्थ चित्र

अन्यत्वभावना

(शार्दूलविक्रीडित)

ना मारा तन रूप कान्ति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारा भृत स्नेहियो स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना।
ना मारा धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना,
रे! रे! जीव विचार एमज सदा, अन्यत्वदा भावना ॥

विशेषार्थ—यह शरीर मेरा नही, यह रूप मेरा नही, यह काति मेरी नही, यह स्त्री मेरी नही, यह पुत्र मेरे नही, ये भाई मेरे नही, ये दास मेरे नही, ये स्नेही मेरे नही, ये सम्बन्धी मेरे नही, यह गोत्र मेरा नही, यह ज्ञाति मेरी नही, यह लक्ष्मी मेरी नही, ये महल मेरे नही, यह यौवन मेरा नही और यह भूमि मेरी नही, यह सब मोह केवल अज्ञानपनेका है। हे जीव! सिद्धगति पानेके लिए अन्यत्वका उपदेश देने वाली अन्यत्वभावनाका विचार कर! विचार कर!

मिथ्या ममत्वकी भ्रमणा दूर करनेके लिए और वैराग्यकी वृद्धिके लिए भावपूर्वक मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतका चरित्र यहाँ उद्धृत करते है—

दृष्टान्त—जिसकी अश्वशालामे रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेज अश्वोंका समूह शोभायमान होता था, जिसकी गजशालामे अनेक भाँतिके मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे, जिसके अन्त पुरमे नवयौवना सुकुमारिका और मुग्धा स्त्रियाँ हजारोकी सख्यामे शोभित

इन पुत्रोंका, इन प्रमदाओंका, इस राजवैभवका और इन वाहन आदि-के सुखका मुझे कुछ भी अनुराग नही ! ममत्व नहीं !"

राजराजेश्वर भरतके अन्त:करणमें वैराग्यका ऐसा प्रकाश पड़ा कि उनका तिमिर-पट दूर हो गया। उन्हें शुक्लध्यान प्राप्त हुआ, जिससे समस्त कर्म जलकर भस्मीभूत हो गये ! महादिव्य और सहस्र किरणोंसे भी अनुपम कान्तिमान केवलज्ञान प्रकट हुआ। उसी समय इन्होंने पंचमुष्टि केशलोचन किया। शासनदेवीने इन्हे साधुके उप-करण प्रदान किये; और वे महावीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर चतु-र्गति, चौवीस दण्डक तथा आधि, व्याधि और उपाधिसे विरक्त हुए। चपल संसारके सकल सुख-विलासोंसे इन्होने निवृत्ति प्राप्त की, प्रिय-अप्रियका भेद दूर हुआ और वे निरन्तर स्तवन करने योग्य परमात्मा हो गये।

प्रमाण-शिक्षा—इस प्रकार छह खण्डके प्रभु, देवोंके देव समान, अतुल साम्राज्य लक्ष्मीके भोक्ता, महाआयुके धनी, अनेक रत्नोंके धारक राजराजेश्वर भरत आदर्श-भवनमें केवल अन्यत्वभावनाके उत्पन्न होनेसे शुद्ध विरागी हुए !

वस्तुत: भरतेश्वरका मनन करने योग्य चरित्र संसारकी शोकार्तता और उदासीनताका पूरा-पूरा भाव, उपदेश और प्रमाण दर्शित करता है। कहो ! इनके घर किस बातकी कमी थी ? न इनके घर नव-यौवना स्त्रियोंकी कमी थी और न थी राजऋद्धिकी कमी, न पुत्रोंके समुदायकी कमी थी, न थी कुटुम्ब परिवारकी कमी, न थी विजय सिद्धिकी कमी, न ही थी नवनिधिकी कमी, न रूप कान्तिकी कमी थी और न ही थी यशस्कीर्तिकी कमी।

इस तरह पहले कही हुई उनकी ऋद्धिका पुन: स्मरण कराकर प्रमाणके द्वारा हम शिक्षा-प्रसादीका लाभ यही देना चाहते हैं कि भरतेश्वरने विवेकसे अन्यत्वके स्वरूपको देखा, जाना और सर्प-

का ससारमे किसी भी प्रकारसे कोई न्यूनत्व नही था, ऐसे वह श्री-
मान् राजराजेश्वर भरत अपने सुन्दर आदर्श भवनमे वस्त्राभूषणोसे
सुशोभित होकर मनोहर सिंहासन पर बैठे थे। चारो ओरके द्वार खुले
थे, नाना प्रकारकी धूपोका धूम्र मद-मद फैल रहा था, नाना प्रकार-
के सुगन्धित पदार्थ खूब महक-महक उठे थे, नाना प्रकारके सुस्वर
युक्त वाद्य-यन यान्त्रिक कलासे स्वर खीच रहे थे, शीतल, मद और
सुगन्धित वायुकी लहरें फैल रही थी, आभूषण आदिका निरीक्षण
करते हुए वे श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भवनमे अपूर्वताको
प्राप्त हुए।

ऐसेमे उनके हाथकी एक उँगलीमेंसे अँगूठी निकल पडी। भरत-
का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उन्हें अपनी उँगली शोभा-
हीन दिखाई दी। नौ उँगलियाँ अँगूठियो द्वारा जिस मनोहरताको
धारण कर रही थी उस मनोहरतासे रहित उस उँगलीको देखकर
भरतेश्वरको अद्भुत मूलोत्तर विचारकी प्रेरणा हुई। किस कारणसे
यह उँगली ऐसी लग रही है? यह विचार करने पर उसे मालूम
हुआ कि इसका कारण केवल उँगलीमेंसे अँगूठीका निकल जाना ही
है। इस बातको विशेषरूपसे प्रमाणित करनेके लिए उसने दूसरी
उँगलीकी अँगूठी भी निकाल डाली। जैसे ही दूसरी उँगलीमेंसे अँगूठी
निकाली वैसे ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखाई देने लगी। फिर
इस बातको सिद्ध करनेके लिए उसने तीसरी उँगलीमेंसे भी अँगूठी
धीरेसे सरका दी, इससे यह बात और भी प्रमाणित हो गई। फिर
चौथी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली इसने भी वैसा ही दृश्य
दिखाया। इस प्रकार भरतने क्रम-क्रमसे दसो उँगलियाँ खाली कर
डाली। खाली हो जानेसे सबकी सब उँगलियाँ शोभाहीन दिखाई
दी। इनके अशोभ्य प्रतीत होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनासे गद्-
गद होकर इस प्रकार बोले—

पंचम चित्र

अशुचिभावना

(गीतिवृत्त)

खाण मूत्र ने मळनी, रोग जरानुं निवासनुं धाम;
काया एवी गणीने, मान त्यजीने कर सार्थक आम ॥

विशेषार्थ—हे चैतन्य ! इस कायाको मल और मूत्रकी खान, रोग और वृद्धताके रहनेका धाम मान कर उसका मिथ्याभिमान त्याग करके सनत्कुमारकी भाँति उसे सफल कर !

इन भगवान् सनत्कुमारका चरित्र अशुचिभावनाकी प्रामाणिकता बतानेके लिए यहाँ आरम्भ करेंगे ।

दृष्टान्त—जो-जो ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ और वैभव भरतेश्वरके चरित्रमें वर्णित किये, उन सब वैभवादिसे युक्त सनत्कुमार चक्रवर्ती थे । उनका वर्ण और रूप अनुपम था । एक बार सुधर्म-सभामें उस रूपकी प्रशंसा हुई, किन्तु किन्ही दो देवोंको वह बात प्रिय नहीं लगी । पश्चात् वे दोनों अपनी शंका निवारणके लिए विप्रके रूपमें सनत्कुमारके अन्तःपुरमें गये । उस समय सनत्कुमारके शरीर पर उबटन लगा हुआ था । उनके अंग पर केवल मर्दनादिक पदार्थोंका विलेपन था । वे एक छोटा-सा अँगोछा (पंचा) पहने हुए थे और वे स्नान-मज्जन करनेके लिए बैठे थे । विप्रके रूपमें आये हुए वे दोनों देव उनका मनोहर मुख, कंचनवर्णी काया और चन्द्रमा जैसी कांति देख कर बहुत आनन्दित हुए; उन्होंने अपने सिरको तनिक हिलाया, तब चक्रवर्तीने उनसे पूछा कि, तुमने सिर क्यों हिलाया ? देवोने कहा कि हम आपके रूप और वर्णको देखनेके बहुत अभिलाषी थे । हमने जगह-जगह पर आपके रूप और वर्णकी प्रशंसा सुनी थी, आज वह बात हमें प्रत्यक्ष प्रमाणभूत हुई अतः हम आनन्दको प्राप्त हुए हैं । हमारे सिर हिलानेका तात्पर्य यह है कि जैसा लोगोंमें कहा जाता

अन्यत्वभावको ही धारण किये हुए है फिर उसमे ममत्व क्या रखना? जब यह मेरी नही होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है? नही। नही। जब यह मेरी नही तो फिर मैं इसका नही, ऐसा विचारूँ, दृढ करूँ और प्रवर्तन करूँ, यही विवेकबुद्धिका तात्पर्य है। यह समस्त सृष्टि अनन्त वस्तुओंसे और अनन्त पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नही, वह वस्तु भी मेरी न हुई, तो फिर अन्य कोई वस्तु मेरी कैसे हो सकती है? अहो! मैं बहुत भूल गया। मिथ्या मोहमे फँस गया। वे नवयौवनायें, वे सब माने हुए कुलदीपक पुत्र, वह अतुल लक्ष्मी, वह छह खण्डका महान् राज्य—मेरे नही। इनमेसे लेश मात्र भी मेरा नही। इसमे मेरा किंचित् भी भाग नही। जिस कायासे मैं इन सब वस्तुओंका उपभोग करता हूँ, जब वह भोग्य वस्तु ही मेरी न हुई तो फिर अपनी मानी हुई अन्य वस्तुएँ—स्नेही, कुटुम्बी इत्यादि—क्या मेरे होनेवाले थे? नही, कुछ भी नही। यह ममत्वभाव मुझे नही चाहिए! इन पुत्र, इन मित्र, इन कलत्र, इस वैभव और इस लक्ष्मी को मुझे अपना मानना ही नही! मैं इनका नही और ये मेरे नही! पुण्यादिको पाकर मैंने जो-जो वस्तुएँ प्राप्त की वे-वे वस्तुएँ मेरी न हुई, इसके समान संसारमे खेदमय और क्या है? मेरे उग्र पुण्यत्वका क्या यही परिणाम न? अन्तमे इन सबका वियोग ही होनेवाला है न? पुण्यत्वके इस फलको पाकर इसकी वृद्धिके लिए मैंने जो-जो पाप किये वे सब मेरे आत्माको ही भोगने हैं न? और वह भी अकेले ही न? इसमें कोई साझीदार नही ही न? नही, नही। इन अन्यत्वभावी पदार्थोंके लिए ममत्वभाव दिखाकर मैं आत्माका अहितैषी होऊँ और इसको रौद्र नरकका भोक्ता बनाऊँ, इसके समान और अज्ञान क्या? ऐसी कौन-सी भ्रमणा है? ऐसा कौन-सा अविवेक है? त्रेसठ शलाका पुरुषोंमेसे मैं एक गिना गया हूँ, फिर भी मै ऐसे कृत्यको दूर न कर सकूँ और प्राप्त की हुई प्रभुताको खो बैठूँ, यह सर्वथा अनुचित है।

तब हम आनन्दित हुए थे। इस समय वह विष-तुल्य है अतः हमें खेद हुआ है। हम जो कुछ कह रहे हैं उस बातको यदि सिद्ध करना हो तो आप इसी समय ताम्बूल थूकिए, तत्काल ही उसपर मक्खी बैठेगी और वह परलोकको प्राप्त होगी।

सनत्कुमार चक्रवर्तीने इस बातकी परीक्षा की तो वह सत्य सिद्ध हुई। पूर्वित कर्मके पापके भागमें इस काया सम्बन्धी मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गई है। विनाशीक और अशुचिमय कायाका ऐसा प्रपंच देखकर सनत्कुमारके अन्तःकरणमें वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे सोचने लगे कि यह संसार केवल त्याग करने योग्य है। ठीक ऐसी ही अशुचि स्त्री, पुत्र और मित्रादिकके शरीरमें विद्यमान है। यह सब मोह-मान करने योग्य नही है, ऐसा कहकर वे छह खण्डकी प्रभुताका त्याग करके चल निकले। वे जब साधुके रूपमें विचरते थे तब उनके शरीरमें कोई महारोग उत्पन्न हो गया। उसकी सत्यताकी परीक्षा लेनेके लिए कोई देव वहाँपर वैद्यके रूपमें आया और उसने साधुसे कहा कि मै बहुत कुशल राज-वैद्य हूँ, तुम्हारी काया रोगका भोग बनी हुई है; यदि इच्छा हो तो मै तत्काल ही उस रोगको दूर कर दूँ। साधु बोले, "हे वैद्य! कर्मरूपी रोग महा-उन्मत्त है; यदि इस रोगको दूर करनेका सामर्थ्य हो तो भले ही मेरे इस रोगको दूर करो और यदि यह सामर्थ्य न हो तो यह रोग भले बना रहे।" देवताने कहा कि इस रोगको दूर करनेका मुझमें सामर्थ्य नही है। तत्पश्चात् साधुने अपनी लब्धिके सम्पूर्ण बलके द्वारा उँगलीको थूक वाली करके उसे रोगपर फेरा कि तत्काल ही वह रोग नष्ट हो गया और वह काया जैसी थी वैसी ही बन गई। उस समय देवने अपने स्वरूपको प्रगट किया और वह धन्यवाद देकर एवं वंदना करके अपने स्थानको चला गया।

कञ्चुकवत् संसारका परित्याग करके उसके ममत्वको मिथ्या सिद्ध कर बताया। महा वैराग्यकी अचलता, निर्ममत्व और आत्मशक्तिकी प्रफुल्लता, यह सब इन महायोगीश्वरके चरित्रमें गर्भित है।

एक ही पिताके सौ पुत्रोंमेंसे निन्यानवें पुत्र पहलेसे ही आत्मकल्याणको साधते थे। सौवें इन भरतेश्वरने आत्मसिद्धि प्राप्त की। पिताने भी इसी कल्याणका साधन किया। उत्तरोत्तर होनेवाले भरतेश्वरके राज्यासनका भोग करनेवाले भी इसी आदर्श-भवनमें इसी सिद्धिको प्राप्त हुए कहे जाते हैं। यह सकल सिद्धि साधकमंडल अन्यत्वको ही सिद्ध करके एकत्वमें प्रवेश कराता है। उन परमात्माओंको अभिवन्दन हो!

(शार्दूलविक्रीडित)

देखी आंगळी आप एक अडवी, वैराग्यवेगे गया,
छाडी राजसमाजने भरतजी, कैवल्यज्ञानी थया।
चोथु चित्र पवित्र एज चरिते, पाम्यु अहीं पूर्णता,
ज्ञानीना मन तेह रंजन करो, वैराग्य भावे यथा॥

विशेषार्थ—अपनी एक उँगलीको शोभारहित देखकर जिसने वैराग्यके प्रवाहमें प्रवेश किया और जिसने राजसमाजको छोडकर केवलज्ञान प्राप्त किया, ऐसे उन भरतेश्वरका चरित्र धारण करके यह चौथा चित्र पूर्णताको प्राप्त हुआ। वह यथेच्छ वैराग्यभाव दिखाकर ज्ञानी पुरुषोंके मनको रंजन करनेवाला होओ।

इति श्री भावनाबोध ग्रंथमें अन्यत्वभावनाके उपदेशके लिए प्रथम दर्शनके चतुर्थ चित्रमें भरतेश्वरका दृष्टान्त और प्रमाण-शिक्षा पूर्णताको प्राप्त हुए।

●

प्रकार मर्म प्रकाशित करते है। विवेक वुद्धिके उदय द्वारा मुक्तिके राजमार्गमे प्रवेश किया जाता है और इस मार्गमें प्रवेश पाना ही मानव देहकी उत्तमता है। तथापि यह बात सदैव स्मृतिमें रखना उचित है कि यह शरीर मात्र अशुचिमय है सो अशुचिमय ही है। इसके स्वभावमे अन्यत्व कुछ भी नही है।

भावनाबोध ग्रन्थमे अशुचि-भावनाके उपदेशके लिए प्रथम दर्शन
के पाँचवें चित्रमे सनत्कुमारका दृष्टान्त और
प्रमाणशिक्षा पूर्ण हुए।

●

अन्तर्दर्शन : षष्ठ चित्र

निवृत्तिबोध

(नाराचछन्द)

अनन्त सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता !
अनन्त दुःख नाम सौख्य प्रेम त्यां, विचित्रता !!
उखाड़ न्याय-नेत्र ने निहाळ रे ! निहाळ तुं;
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी ते प्रवृत्ति बाळ तुं ॥

विशेषार्थ—जिसमें एकान्त और अनन्त सुखकी तरंगे उछलती है ऐसे शील, ज्ञानको केवल नाम मात्रके दुःखसे उकताकर उन्हे मित्ररूप नही मानकर, उनमें अभाव करता है; और केवल अनन्त दुःखमय ऐसे संसारके नाममात्र सुखमें तेरा परिपूर्ण प्रेम है, यह कैसी विचित्रता है ! अहो चेतन ! अब तू अपने न्यायरूपी नेत्रोको खोलकर देख ! रे देख !! देखकर शीघ्र ही निवृत्ति अर्थात् महा-वैराग्यको धारण कर और मिथ्या काम-भोगकी प्रवृत्तिको जला दे !

ऐसी पवित्र महानिवृत्तिको दृढ़ करनेके लिए उच्च वैराग्यवान्

है वैसा ही आपका रूप है। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि उससे विशेष ही है, कम नहीं। सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने रूप और वर्णकी प्रशसा सुनकर प्रभुत्वमे आकर वोले कि तुमने अभी मेरा जो रूप देखा सो तो ठीक, किन्तु जिस समय मैं राजसभामे वस्त्रालकार धारण करके सम्पूर्ण सुसज्जित होकर सिंहासन पर बैठता हूँ उस समय मेरा रूप और वर्ण देखने योग्य है, इस समय तो मैं शरीर पर उबटन-लिप्त दशामे बैठा हूँ। यदि तुम उस समय मेरे रूप और वर्णको देखोगे तो अद्भुत चमत्कारको प्राप्त होगे और आश्चर्यचकित हो जाओगे। 'तो फिर हम राजसभामे आवेंगे' ऐसा कहकर देव वहाँसे चले गये।

उसके बाद सनत्कुमार चक्रवर्तीने उत्तम और अमूल्य वस्त्रालकार धारण किये। और जैसे भी अपनी काया विशेष आश्चर्य उपजावे उस प्रकारके अनेक उपचार करके वे राजसभामे आकर सिंहासनपर बैठे। आस-पासमे समर्थ मत्रीगण, सुभट, विद्वान् और अन्य सभासद् लोग अपने-अपने योग्य आसनो पर बैठ गये है। राजेश्वर चँवर-छत्रसे और क्षेम-क्षेम (खमा-खमा) से विशेष शोभित हो रहे हैं। एव हर्षपूर्वक पूजा-सत्कार पा रहे हैं। वहाँ वे देवता विप्रका रूप धारण करके पुन आये। अद्भुत रूप-वर्णसे आनन्द प्राप्त करनेके बदले मानो खेदको प्राप्त हुए हैं, ऐसे भावसे उन्होंने अपना सिर हिलाया। चक्रवर्तीने पूछा कि हे ब्राह्मणो! पिछली वारकी अपेक्षा इस वार तुमने भिन्नरूपसे अपना सिर हिलाया, इसका क्या कारण है? वह मुझसे कहो। तब अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोंने कहा कि हे महाराज! उस रूपमे और इस रूपमे धरती और आकाशका अन्तर हो गया है। चक्रवर्तीने उन्हे इस वातको स्पष्ट समझानेके लिए कहा। तब ब्राह्मण वोले अधिराज! पहले आपकी कोमल काया अमृत-तुल्य थी, इस समय विष तुल्य है। इसलिए, जब आपका अमृत-तुल्य अग था

हुआ। वह माता-पिताके निकट आकर बोला कि—पूर्व भवमें मैंने पाँच महाव्रतके सम्बन्धमें सुना था और नरकमें जो अनन्त दु:ख हैं उन्हे भी मैंने सुना था और जो तिर्यञ्च गतिमें अनन्त दु:ख है वे भी मैने सुने थे। उन अनन्त दु:खोंसे खेद पाकर अब मैं उनसे निवृत्त होनेका अभिलाषी हुआ हूँ। इसलिए संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए हे गुरुजनो! मुझे उन पाँच महाव्रतोंको धारण करनेकी अनुज्ञा दीजिए।"

कुमारके वैराग्यपूर्ण वचन सुनकर माता-पिताने उसे भोगोंको भोगनेका आमंत्रण दिया। आमंत्रणके वचनोसे खेदखिन्न होकर मृगा-पुत्रने कहा कि—"अहो मात! अहो तात! जिन भोगोंको भोगनेका आप मुझे आमंत्रण दे रहे है वे भोग मै खूब भोग चुका हूँ। वे भोग-विषफल—किंपाक वृक्षके फलकी उपमासे युक्त है; भोगनेके बाद कडवे विपाकको देते है और सदैव दु.खोत्पत्तिके कारण है। यह शरीर अनित्य और केवल अशुचिमय है, अशुचिसे उत्पन्न हुआ है; यह जीव-का अशाश्वत निवास है और अनन्त दु.खोंका कारण है। यह शरीर रोग, जरा और क्लेश आदिका भाजन है। ऐसे शरीरमे मै कैसे रति करूँ? यह शरीर बालपनमे छोड़ देना पड़ेगा अथवा वृद्धावस्थामें ऐसा जिसका कोई नियम नही है। यह शरीर पानीके फेनके वुल-वुलेके समान है। ऐसे शरीरमे स्नेह करना कैसे योग्य हो सकता है? मनुष्यभवमें इस शरीरको प्राप्त करके यह कोढ़, ज्वर इत्यादि व्या-धियोसे तथा जरा और मरणसे ग्रसित है। उसमें मै कैसे प्रेम करूँ?

जन्मका दु:ख, जराका दु ख, रोगका दु:ख, मरणका दु ख; इस प्रकार इस संसारमे केवल दु:खके ही हेतु है। भूमि, क्षेत्र, आवास, कंचन, कुटुम्व, पुत्र, प्रमदा और बन्धु-बान्धव इन सबको छोड़कर मात्र क्लेशको प्राप्त करके इस शरीरको छोड़कर अवश्य ही जाना है। जैसे किम्पाक-वृक्षके फलका परिणाम सुखदायक नही है, वैसे ही भोगका परिणाम भी सुखदायक नहीं है। जैसे कोई पुरुष महा यात्रा-

प्रमाणशिक्षा—जिस शरीरमे सदैव खून और पीपसे खदबदाते हुए रक्तपित्त जैसे महारोगकी उत्पत्ति होती है, पल भरमे विनश जानेका जिसका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममे पौने दो-दो रोगोका निवास है और ऐसे साढे तीन करोड रोमयुक्त होनेमे वह करोडो रोगोका भण्डार है, ऐसा विवेकसे सिद्ध है। अन्नादिककी न्यूनाधिकतासे वे प्रत्येक रोग जिस शरीरमे प्रकट होते है, मल-मूत्र, विष्ठा, हाड-माँस, पीप और कफ इत्यादिसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, मात्र त्वचासे जिसकी मनोहरता दिखाई देती है, उस शरीरका मोह सचमुच विभ्रम ही है! सनत्कुमार चक्रवर्तीने जिसका लेशमात्र अभिमान किया वह भी जिससे सहन नही हुआ उस शरीरमे अरे पामर! तू क्या मोह करता है? 'यह मोह मगलदायक नही है'[1]।

ऐसा होनेपर भी[2] आगे चलकर मनुष्य देहको सब देहोंसे उत्तम कहना पडेगा। इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि इस मानव देहमे सिद्ध-गतिकी सिद्धि होती है। उस स्थानपर नि शङ्क होनेके लिए यहाँ नाम मात्रका व्याख्यान किया गया है।

जब आत्माके शुभ कर्मका उदय हुआ तब उसे मनुष्य-देहकी प्राप्ति हुई। मनुष्यका अर्थ-दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुँह, दो ओष्ठ और एक नाक वाले शरीरका स्वामी नही है, अपितु इसका मर्म अलग ही है। यदि हम इस प्रकार अविवेक दिखायें तो फिर बन्दरको भी मनुष्य माननेमे क्या हानि है? क्योंकि उस बेचारेको तो एक पूँछ भी अधिक प्राप्त है। किन्तु नही, मनुष्यत्वका मर्म यह है कि—जिसके मनमे विवेक बुद्धिका उदय हुआ है वही मनुष्य है, शेष सब विवेक बुद्धिके बिना दो पैर वाले पशु ही हैं। मेधावी पुरुष निरन्तर इस मानवत्वका इसी

---

१ द्वि० आ० पाठा० 'यह किंचित् भी स्तुतिपात्र नही है।'

२ देखिये, मोक्षमाला शिक्षा पाठ ४—मानव देह।

संयतिको अवधारण करना एवं उसका पालन करना महा दुर्लभ है। धनधान्य, सेवक-समुदाय तथा परिग्रहके ममत्वका वर्जन, सभी प्रकारके आरम्भका त्याग करके मात्र निर्ममत्व भावसे पाँचवाँ महाव्रत संयतिको धारण करना अति विकट है। रात्रिभोजनका वर्जन तथा घृतादि पदार्थोंके बासी रखनेका त्याग करना अति दुष्कर होता है।

"हे पुत्र ! तू चारित्र-चारित्र क्या रटता है? चारित्र जैसी और कौन-सी दुःखप्रद वस्तु है? क्षुधाका परिषह सहन करना, तृषाका परिषह सहन करना, सर्दी और गर्मीका परिषह सहन करना, डाँस, मच्छरका परिषह सहन करना, आक्रोषका परिषह सहन करना, उपाश्रयका परिषह सहन करना, तृणादिक-स्पर्शका परिषह सहन करना तथा मैलका परिषह सहन करना निश्चय ही हे पुत्र ! कठिन है। ऐसा चारित्र कैसे पालन किया जा सकता है? वध-बन्धन आदिका परिषह कैसा विकट है? भिक्षाचरी कैसी दुर्लभ है, याचना करना कैसा दुर्लभ है? याचना करनेपर भी प्राप्त न हो तो वह अलाभ परिषह सहन करना कैसा दुर्लभ है? कायर पुरुषके हृदयको भेद डालनेवाला केशलोचन कैसा विकट है? तू विचार कर, कर्म वैरीके प्रति रौद्र-रूप ऐसा ब्रह्मचर्य व्रत कैसा दुर्लभ है? सचमुच ! अधीर आत्माके लिए यह सब अत्यधिक विकट हैं।

"प्रिय पुत्र ! तू सुख भोगनेके योग्य है। तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीयतासे निर्मल स्नान करने योग्य है। हे प्रिय पुत्र ! निश्चय ही तू चारित्र पालन करनेके लिए समर्थ नही है। यावज्जीवन इसमें कही कोई विश्राम नही है। सयतिके गुणका महासमुदाय लोहेकी भाँति बहुत भारी है। संयमका भार-वहन करना अत्यन्त विकट है। जैसे आकाश-गगाके प्रवाहके सामने जाना दुष्कर है उसी प्रकार युवावस्थामें संयमका पालन करना महादुष्कर है। जैसे बहावके

युवराज मृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ प्रत्यक्ष है। तू कैसे दुःखोंको सुख मान बैठा है ? और कैसे सुखको दुःख मान बैठा है ? इसे युवराजके मुख-वचन ही यथातथ्य सिद्ध करेंगे।

दृष्टान्त—अनेक प्रकारके मनोहर वृक्षोंसे परिपूर्ण उद्यानोंसे सुग्रीव नामक एक सुशोभित नगर है। उस नगरके राज्यासन पर बलभद्र नामक राजा राज्य करता था। उसकी प्रियवदा पट्टरानीका नाम मृगा था, इस दम्पतिसे बलश्री नामक एक कुमारने जन्म लिया। वह 'मृगापुत्र'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। वह अपने माता-पिताको अत्यन्त प्रिय था। उस युवराजने गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी संयतिके गुणोंको प्राप्त किया था। इसलिए वह दमीश्वर अर्थात् यतियोंमें अग्रेसर गिने जाने योग्य था। वह मृगापुत्र शिखरबन्द आनन्दकारी प्रासादमें अपनी प्राण-प्रियाके साथ दोगुंदक देवताकी भाँति विलास करता था। निरन्तर प्रमोदयुक्त मनसे रहता था। उसके प्रासादका आँगन चन्द्रकान्त आदि मणि तथा विविध रत्नोंसे जड़ा हुआ था। एक दिन वह कुमार अपने झरोखेमें बैठा हुआ था। वहाँसे नगरका निरीक्षण परिपूर्ण रूपसे होता था। जहाँ चार राजमार्ग एकत्वको प्राप्त होते थे ऐसे चौराहे पर तीन राजमार्ग एकत्रित हुए हैं वहाँ उसकी दृष्टि गई। वहाँ उसने महा तप, महा नियम, महा संयम, महा शील और महा गुणोंके धामरूप एक शान्त तपस्वी साधुको देखा। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा है त्यों-त्यों उस मुनिको वह मृगापुत्र निरख-निरख कर देख रहा है।

इस निरीक्षण परसे वह उस प्रकार बोला "लगता है, ऐसा रूप मैंने कहीं देखा है' और ऐसा कहते-कहते वह कुमार प्रशस्त परिणामको प्राप्त हुआ। उसके मोहका परदा हट गया और वह उपशमताको प्राप्त हुआ। पूर्व जातिका स्मरण उत्पन्न होनेसे वह महा-ऋद्धिका भोक्ता मृगापुत्र पूर्व चारित्रके स्मरणको भी प्राप्त हुआ। वह शीघ्र ही उस विषयमें अनासक्त हुआ तथा संयममें आसक्त

मनुष्य-लोकमें जिस अग्निको अतिशय उष्ण माना गया है, उस अग्निसे अनन्तगुनी उष्ण ताप वेदना इस आत्माने नरकगतिमें भोगी है। मनुष्य लोकमें जो ठण्ड अतिशीतल मानी गई है उस ठण्डसे भी अनन्तगुनी ठण्ड इस आत्माने नरकमे असातापूर्वक भोगी है। लोहे के पात्रमें ऊपर पाँव बाँधकर और नीचे मस्तक करके देवताओंके द्वारा विक्रियासे बनाई हुई धुआँधार जलती हुई आगमें आक्रन्दन करते हुए इस आत्माने अति-उग्र दुःख भोगे है। महादवकी अग्निके समान मरुदेशमें जैसी बालू होती है उस बालूके समान वज्रमय बालू कदम्ब नामक नदीकी है, उस प्रकारकी उष्ण बालूमे पूर्वकालमें मेरे आत्माको अनन्त बार जलाया है।"

"पकानेके बर्तनमें मुझे पकानेके लिए आक्रन्दन करते हुए भी अनन्त बार पटका है। नरकमें महारौद्र परम-अधार्मिकोंने मुझे, मेरा कटु-कर्म विपाक होनेसे अनन्त बार ऊँचे वृक्षकी शाखापर बाँधा था। मुझ, बान्धवरहितको लम्बी करवतोंसे चीरा था। अत्यन्त तीक्ष्ण काँटोंसे व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्षके साथ बाँधकर मुझे भारी खेद उपजाया था। रज्जुपाशसे बाँधकर आगे-पीछे खीचकर मुझे बहुत दुःखी किया था। महान् असह्य कोल्हूमें ईखकी भाँति आक्रन्दन करते हुए बड़ी ही निर्दयताके साथ मैं पीड़ित किया गया हूँ। यह सब जो दुःख भोगना पड़ा है वह मात्र अपने अनन्त बारके अशुभकर्मके उदयका ही फल था। साम-नामक परम अधार्मिकोंने मुझे कुत्ता बनाया, साबल नामक परम अधार्मिकोने उस कुत्तेके रूपमें मुझे जमीनपर पटका और जीर्णवस्त्रकी भाँति फाड़ा, वृक्षकी भाँति छेदा, मै उस समय बहुत छटपटाता था।

"विकराल खड्गसे, भालेसे तथा अन्य हथियारोंसे उन प्रचण्डोंने मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डाले। नरकमें पापकर्मके उदयसे जन्म लेकर अत्यन्त भयंकर प्रकारके दुःखसमूहोंको भोगनेमें तिलभर भी कमी नही रही। परतन्त्रतामे मुझे अनन्त प्रज्वलित रथमें नीलगाय (रोझ)

के प्रसगमे अन्न जल अगीकार न करे, मतलब कि साथमे न ले और क्षुधातृपासे दु खी हो, वैसे ही धर्मके अनाचरणसे परभवकी यात्रामे जाता हुआ वह पुरुप दु खी हो, जन्ममरणादिककी वेदना पावे। जिस प्रकार महाप्रवासमे जाते हुए जो पुरुप अन्न-जलादिक साथमे लेता है वह क्षुधातृपासे रहित होकर सुखको प्राप्त करता है, उसी प्रकार धर्मका आचरण करनेवाला पुरुप परभवमे जाता हुआ सुखको प्राप्त होता है, अल्पकर्म रहित होता है और असाता वेदनीयसे रहित होता है। हे गुरुजनो! जैसे किसी गृहस्थका घर जल रहा हो तब उस घरका मालिक अमूल्य वस्त्रादिकको लेकर जीर्ण वस्त्रादिकको पडे रहने देता है, उसी प्रकार लोकको जलता हुआ देखकर जीर्ण वस्त्ररूपी जरा-मरणको छोडकर (आप आज्ञा दें तब मैं) अपने अमूल्य आत्माको उस ज्वालासे बचाऊँगा।"

मृगापुत्रके यह वचन सुनकर शोकार्त हुए उसके माता-पिताने कहा कि—"हे पुत्र! यह तू क्या कहता हे? चारित्र, निर्वाह करनेमे बडा दुर्लभ है। यतिको क्षमादिक गुण धारण करने पडते है, उनकी रक्षा करनी पडती है और यत्नपूर्वक उन्हे सँभालना पडता है। सयतिको मित्र और शत्रुमे समभाव रखना होता है, सयतिको अपने आत्मा और परात्मा पर समबुद्धि रखनी होती है, अथवा सर्व जगतपर समान भाव रखना होता है। ऐसा यह प्राणातिपातविरति प्रथम व्रत, जीवन पर्यन्त पालन करना पडता है कि जिसका पालन करना अति दुर्लभ है। सयतिको सदा काल अप्रमाद भावसे असत्य वचनका त्याग और हितकारी वचनका बोलना—ऐसा पालनेमे दुष्कर दूसरा व्रत अवधारण करना पडता हे। सयतिको दन्त-शोधनके अर्थ एक सीक तकका अदत्त-ग्रहण करनेका त्याग, और निरवद्य तथा दोपरहित भिक्षाका ग्रहण, इस प्रकार पालन करनेमे दुष्कर तीसरे व्रतका अवधारण करना पडता है। कामभोगके स्वादको जानने और अब्रह्मचर्यके धारण करनेका त्याग करके ब्रह्मचर्य रूप चौथा व्रत

मैंने महाभयसे, महात्रासससे और महादुःखसे कम्पायमान कायाके द्वारा अनन्त वेदनाएँ भोगी। जो वेदनाएँ सहन करनेमें अतितीव्र, भयंकर और उत्कृष्ट कालस्थितिवाली है और जो सुननेमें भी अत्यन्त भयंकर है उन्हें मैंने नरकमे अनन्तवार भोगा है। जैसी वेदना मनुष्य लोकमे है, उससे भी अनन्तगुनी अधिक असातावेदनीय नरकमे विद्यमान थी। मैंने सभी भावोमे असातावेदनीय भोगी है; एक क्षणमात्र भी वहाँ सुख नही है।"

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्यभावसे संसार-परिभ्रमणके दुःख कह सुनाये। इसके उत्तरमें उसके माता-पिता इस प्रकार बोले कि—"हे पुत्र ! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो तू दीक्षा ग्रहण कर, किन्तु चारित्र पालन करते हुए रोगोत्पत्तिके समय औषधोपचार कौन करेगा ? दुःखनिवृत्ति कौन करेगा ? इसके बिना बड़ी कठिनता है।"

मृगापुत्रने कहा कि, "यह ठीक है, किन्तु आप विचार करें कि जंगलमे मृग तथा पक्षी अकेले ही होते है, उन्हे रोग उत्पन्न होता है तव उनकी चिकित्सा कौन करता है ? जैसे वनमें मृग अकेले ही विहार करते है उसी प्रकार मै भी चारित्र-वनमें विहार करूँगा और सत्रह प्रकारके शुद्ध सयमका अनुरागी होऊँगा। बारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा तथा मृगचर्यासे विचरूँगा। जब मृगको वनमें किसी रोगका उपद्रव होता है तब उसकी चिकित्सा कौन करता है ?" ऐसा कहकर वह पुनः बोला कि, "कौन उस मृगको औषधि देता है ? कौन उस मृगके आनन्द, शान्ति और सुख की वात पूछता है ? कौन उस मृगको अन्नजल लाकर देता है ? जैसे वह मृग उपद्रवमुक्त होनेके वाद उस गहन वनमे वहाँ जाता है जहाँ सरोवर होता है और वहाँ घास-पानी आदिका सेवन करके जैसे वह मृग पूर्ववत् विचरता है उसी प्रकार मैं भी विचरूँगा। सारांश यह है कि मै इस प्रकारकी मृगचर्याका आचरण करूँगा और मैं मृगकी भाँति सयमवत बनूँगा। अनेक स्थलोमे विचरता हुआ यति मृगकी भाँति अप्रतिवद्ध रहे, मृग-

विपरीत जाना दुर्लभ है वैसे ही युवावस्थामे सयमका पालन करना महादुलभ है। जैसे भुजाओमे समुद्रका तिरना दुष्कर है वैसे ही युवावस्थामे सयमरूपी गुण समुद्रको तिरना महादुष्कर है। जैसे रेतका कौर नीरस है वैसे ही सयम भी नीरस है। जैसे खड्गकी धार पर चलना कठिन है वैसे ही तपका आचरण करना महा कठिन है। जैसे साँप एकान्त (सीधी) दृष्टिसे चलता है वैसे ही चारित्रमे ईर्या समितिके कारण एकान्त रूपमे चलना बडा कठिन है। हे प्रिय पुत्र! जैसे लोहेके चने चवाना कठिन है, वैसे ही आचरण करनेमे सयम कठिन है। जैसे अग्नि-शिखाका पान करना दुष्कर है वैसे ही यौवनमे यतिपना अगीकार करना महादुष्कर है। केवल मन्द सहननके धारी कायर पुरुषका यतिपना प्राप्त करना और पालना दुष्कर है। जैसे तराजूमे मेरुपर्वतका तौलना दुर्लभ है वैसे ही निश्चलतासे नि शकतासे इस प्रकारके यति धर्मका पालन करना दुष्कर है। जैसे भुजाओंके द्वारा स्वयभूरमण समुद्रका पार करना दुष्कर है वैसे ही जो उपशमवत नहीं है उसके लिए उपशमरूपी समुद्रका पार करना अत्यन्त दुष्कर है।

"हे पुत्र! शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकारके मनुष्य सम्बन्धी भोगोको भोगकर, भुक्तभोगी होकर तू वृद्धावस्थामे धर्मका आचरण करना।"

माता-पिताका भोग सम्बन्धी उपदेश सुनकर वह मृगापुत्र अपने माता-पितासे इस प्रकार बोल उठा—

"विषयकी वृत्ति न हो उसे सयमकी पालना कुछ भी दुष्कर नहीं। इस आत्माने शारीरिक और मानसिक वेदनाएँ असाता रूपसे अनन्त वार सहन की हैं, भोगी हैं। इस आत्माने महादु खसे परिपूर्ण और भयको उत्पन्न करनेवाली अति रौद्र वेदनाएँ भोगी हैं। जन्म, जरा और मरण ये भयके धाम हैं। मैंने चतुर्गतिमय ससार-अटवीमे भटकते हुए अति रौद्र दु ख भोगे हैं। हे गुरुजनो!

सहित धर्मध्यानादिक व्यापारमें प्रशस्त होता हुआ जिन-शासन-तत्त्वमें परायण हो गया। वह ज्ञानसे, आत्मचारित्रसे, सम्यक्त्वसे, तपसे और प्रत्येक महाव्रतकी पॉच भावनाओसे अर्थात् पाँच महाव्रतोंकी पच्चीस भावनाओंसे और निर्मलतासे वह अनुपमरूपमें शोभायमान हुआ। अन्तमें वह महाज्ञानी युवराज मृगापुत्र सम्यक् प्रकारसे वहुत वर्ष तक आत्म चारित्रकी परिसेवना कर, एक मासका अनशन करके सर्वोत्तम मोक्षगतिको प्राप्त हुआ।

प्रमाणशिक्षा—तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा सप्रमाण सिद्ध की हुई वारह भावनाओमेंसे संसार-भावनाको दृढ करनेके लिए यहाँ मृगापुत्रके चरित्रका वर्णन किया गया है। यह विवेक-सिद्ध है कि संसार-अटवीमें परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुःख है और उसमें भी, जिसमें लेश मात्र भी सुख नही है ऐसी नरक-अधोगतिके अनन्त दुःखोंका वर्णन युवा-ज्ञानी योगीन्द्र मृगापुत्रने अपने माता-पिताके समक्ष किया है; जो मात्र ससारसे मुक्त होनेके लिए वैराग्यमय उपदेश प्रदर्शित करता है। जो आत्म-चारित्रको धारण करनेमें तप-परिषह आदिके बाह्य दुःखोंको दुःख माना है और महाअधोगतिके परिभ्रमणरूप अनन्त दुखोंको वहिर्भाव मोहनीके कारण सुख माना है; यह देख कैसी भ्रम-विचित्रता है? आत्म-चारित्रका दुःख, दुःख नही किन्तु परम सुख है और फलतः अनन्त सुख-तरंगकी प्राप्तिका कारण है और भोग-विलास आदिका सुख जो क्षणिक एवं वाहरसे दिखाई देनेवाला सुख है वह मात्र दुःख ही है। फलतः अनन्त दुःखका कारण है, इस वातको सप्रमाण सिद्ध करनेके लिए महाज्ञानी मृगापुत्रका वैराग्य यहाँ दिखाया गया है। इस महाप्रभावकारी, महान् यशस्वी मृगापुत्रकी भाँति जो तपादिक तथा आत्म-चारित्रादिक शुद्धाचरण करेगा वह उत्तम साधु त्रिलोकमें प्रसिद्ध और प्रधान परमसिद्धिदायक सिद्धगतिको प्राप्त करेगा। संसार-ममत्वको दुःखवृद्धिरूप मानकर तत्त्वज्ञानी-पुरुष उस

मुमुक्षुओको मोक्षमार्गमे प्रगति करनेमे
सर्व प्रकारसे सहायक हो यही इस
प्रकाशनका हेतु है ।

और मुखपट्टी वृक्षपर लटका दिये और वह इस वातकी निरन्तर चिन्ता करने लगा कि पुण्डरीक मुझे अब राज्य देगा या नही ? वन-पालने कुण्डरीकको पहचान लिया और उसने जाकर पुण्डरीकको अवगत कराया और निवेदन किया कि अत्यन्त आकुल-व्याकुल दशामें आपके भाई अशोक-वाटिकामें ठहरे हुए है। पुण्डरीकने वहाँ पहुँच कर कुण्डरीकके मनोगतभावोंको जान लिया; और उसे चारित्रसे डगमगाते हुए देखकर कुछ उपदेश दिया और तत्पश्चात् उसे राज्य सौपकर घर चला आया।

एक हजार वर्ष प्रव्रज्या पालकर पतित होनेके कारण कुण्डरीक-की आज्ञाका सामन्त अथवा मत्री लोग कोई भी अवलम्बन नही करके उसे धिक्कारते थे। कुण्डरीकने राज्यमें आनेके वाद अधिक आहार कर लिया, इस कारण उसे रात्रिमें बहुत पीड़ा हुई और वमन हो गया; अप्रीतिके कारण उसके पास कोई नही आया, इसलिए उसके मनमे प्रचण्ड भाव जागृत हुआ और उसने निश्चय किया कि मुझे इस पीड़ासे शान्ति मिले तो फिर मै सबेरे इन सबको देख लूँगा। इस प्रकारके महादुर्ध्यानसे मरकर वह सातवे नरकके अपय-ठांण पाथड़ेमें तैतीस सागरकी आयुको धारणकर अनंत दुःखमें जाकर उत्पन्न हुआ। कैसा विपरीत आश्रव-द्वार !

इस प्रकार सप्तम चित्रमें आश्रव-भावना समाप्त हुई।

●

अष्टम चित्र

संवर-भावना

संवर-भावना :—उपरोक्त आस्रव द्वारा और पाप-प्रनालको सर्व प्रकारसे रोकना (आते हुए कर्मसमूहको अटकाना) वह संवरभाव है।

की भाँति वलपूर्वक मुझे जोता गया। मै भैसेकी भाँति देवताओकी वैक्रियक अग्निमे जलाया गया। मै भूभलमे पका (अर्द्धदग्ध) होकर असातासे अत्यन्त उग्रवेदना भोगता था। ढक और गिद्ध नामके विकराल पक्षियोकी सँडमे जैसी चोचोसे चूथा जाकर मै अनन्त वेदनाओसे घवराकर विलाप करता रहा। प्यासके कारण जल पीनेकी आतुरतामे अतिवेगसे दौडते हुए छुरेकी धारके समान अनन्त दु खदायी वैतरणीका पानी मुझे मिला। पैनी तलवारकी धारके समान पत्तोवाले और महातापसे सतप्त ऐसे असिपत्र-वनमे पूर्वकालमे मुझे अनन्तवार छेदा गया। मुद्गरसे, पैने हथियारोसे, त्रिशूलमे, मूसलसे और गदासे मेरे गात छिन्न-भिन्न किये गये। इस प्रकार शरणरूप सुखके विना मैं अशरणरूप अनन्त दु ख भोगता था। मुझे शस्त्रोकी तीक्ष्ण धार द्वारा, छुरीसे तथा कैंचीसे वस्त्रकी भाँति काटा गया था। मेरे खण्ड-खण्ड टुकडे किये गये थे। मुझे तिरछा छेदा गया था। चररर शब्द करती हुई मेरी त्वचा उतारी गई थी। इस प्रकार मैंने अनन्त दु ख पाये थे।

"मैं परवशतामे मृगकी भाँति अनन्तवार पाशमे पकडा गया। परम अधार्मिकोने मुझे मगरमच्छके रूपमे जाल डालकर अनन्तवार दु ख दिया। मुझे वाजके रूपमे पक्षीकी भाँति जालमे फँसाकर अनन्तवार मारा। फरसा इत्यादिक शस्त्रोमे मुझे अनन्तवार वृक्षकी भाँति काटकर मेरे छोटे-छोटे टुकडे किये। जैसे लुहार घन अथवा हथौडे आदिमे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे भी पूर्वकालमे परम अधार्मिकोने अनन्तवार कूटा-पीटा। ताँवा, लोहा और सीसा आदिको अग्निमे गलाकर उसका उवलता हुआ रस मुझे अनन्तवार पिलाया। अति रौद्रतासे वे परम अधार्मिक मुझसे ऐसा कहते जाते थे कि तुझे पूर्व भवमे मास प्रिय था, अव ले यह मास ! इस प्रकार मैंने अपने ही शरीरके खण्ड-खण्ड टुकडे अनन्तवार निगले थे। मद्यकी प्रियता के कारण भी मुझे इससे कुछ कम दु ख सहना नही पडा। इस प्रकार

स्वामीको अनेक प्रकारसे भोग सम्बन्धी उपदेश दिया; भोगके सुख अनेक प्रकारसे वर्णन कर दिखाये, मनमोहक हावभाव तथा अन्य प्रकारके चलायमान करनेवाले अनेक उपाय किये, किन्तु वे सब व्यर्थ हुए। महासुन्दरी रुक्मिणी अपने मोहकटाक्षमें असफल हुई। उग्र चरित्र विजयमान वज्रस्वामी मेरुकी भाँति अचल और अडोल रहे। वे रुक्मिणीके मन, वचन और तनके सभी उपदेशों एवं हावभावोंसे लेशमात्र भी नही पिघले। ऐसी महाविशाल दृढ़तासे रुक्मिणीने वोध प्राप्त करके निश्चय किया कि यह समर्थ जितेन्द्रिय महात्मा कभी भी चलायमान होनेवाले नही है। लौह और पत्थरको पिघलाना तो सरल है, किन्तु इन महा पवित्र साधु वज्रस्वामीको पिघलानेके सम्बन्धमें आशा करना निरर्थक होनेके साथ अधोगतिकी कारणरूप है। इस प्रकार सुविचार करके उस रुक्मिणीने पिताके द्वारा प्रदत्त लक्ष्मीका शुभ क्षेत्रमें उपयोग करके चारित्रको ग्रहण किया; मन, वचन और कायको अनेक प्रकारसे दमन करके आत्मकल्याणकी साधना की। तत्त्वज्ञानी लोग इसे संवरभावना कहते हैं।

इस प्रकार अष्टम चित्रमें संवर-भावना समाप्त हुई।

●

नवम चित्र

निर्जरा-भावना

वारह प्रकारके तपके द्वारा कर्म समूहको जलाकर भस्मीभूत कर देनेका नाम निर्जराभावना है। तपके वारह प्रकारमें छह प्रकारके वाह्य और छह प्रकारके अन्तरंग तप है। अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता ये छह वाह्य तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, शास्त्रपठन, ध्यान और कायोत्सर्ग ये छह अभ्यन्तर तप है। निर्जरा दो प्रकारकी है—एक अकाम निर्जरा

की भाँति विचरण करता हुआ मृगचर्याका सेवन करके, सावद्यको दूर करके विचरण करे। जैसे मृग घास-पानी आदिकी गोचरी करता है उसी प्रकार यति भी गोचरी करके सयमभारका निर्वाह करे। वह दुराहारके लिए गृहस्थका तिरस्कार न करे, उसकी निन्दा न करे, मैं भी ऐसा सयम आचरूँगा।"

"एव पुत्ता जहासुख"—हे पुत्र! जैसे तुझे सुख हो वैसा कर। इस प्रकार माता-पिताने अनुज्ञा दी। अनुज्ञा मिलते ही जैसे महानाग काचलीको त्याग कर चला जाता है वैसे ही वह मृगापुत्र ममत्वभावका छेदन करके, ससारको त्याग कर सयमधर्ममें सावधान हो गया और कचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, जाति और सगे सम्बन्धियोका परित्यागी हो गया। जैसे वस्त्रको फटकार कर धूलको झाड डालते है वैसे ही वह भी समस्त प्रपचोको त्याग कर दीक्षा लेनेके लिए निकल पडा और पवित्र पचमहाव्रतसे युक्त हुआ, पाँच समितियोंसे सुशोभित हुआ, त्रिगुप्तियोंसे अनुगुप्त हुआ, वाह्य और अभ्यन्तर वारह प्रकारके तपसे सयुक्त हुआ, ममत्व रहित हुआ, निरहकारी हुआ, स्त्री आदिके सगसे रहित हुआ और समस्त प्राणियोमे उसका समभाव हुआ। अन्नजल प्राप्त हो या न हो, सुख हो या दु ख, जीवन हो या मरण, कोई निन्दा करे या स्तुति, कोई सम्मान दे या अपमान करे, उन सब पर वह समभाववान् हुआ। वह ऋद्धि, रस और सुख इन तीनों गारवके अह-पदसे विरक्त हुआ। मनदड, वचनदण्ड और तनदडकी निवृत्ति की। चार कषायोंसे विमुक्त हुआ। मायाशल्य, निदानशल्य तथा मिथ्यात्वशल्य इन तीन शल्योंसे वह विरक्त हुआ। सात महाभयोंसे अभय हुआ। हास्य और शोकसे निवृत्त हुआ। निदानरहित हुआ। रागद्वेषरूपी वन्धनसे छूट गया। वाछारहित हुआ। सभी प्रकारके विलासोंसे रहित हुआ। कोई तलवारसे काटे या चन्दनका विलेपन करे, उनपर समभावी हुआ। पापास्रवके समस्त द्वार उसने वन्द कर दिये। वह शुद्ध अत करण

ऐसी उत्तम भावनाके साथ उसने पंचमुष्टि केशलोंच किया, और नगरके चौकमें आकर वह उग्र कायोत्सर्गसे अवस्थित हो गया। उसने पहले सारे नगरको संतापित किया था इसलिए लोगोंने भी उसे अनेक प्रकारसे दुःख देना प्रारम्भ किया। आते-जाते हुए लोगोंके धूल-मिट्टी और ईंट पत्थरके फेंकनेसे और तलवारकी मूठ मारनेसे उसे अत्यन्त सन्ताप हुआ। वहाँ लोगोंने डेढ़ महीने तक उसका अपमान किया। बादमें जब लोग थक गये तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। दृढ़प्रहारी वहाँसे कायोत्सर्गका पालन कर नगरके दूसरे चौकमें ऐसे ही उग्र कायोत्सर्गसे अवस्थित हो गया। उस दिशाके लोगोंने भी उसका इसी तरह अपमान किया। उन्होंने भी डेढ़ महीने तंग करके छोड़ दिया। वहाँसे कायोत्सर्गका पालन कर दृढ़प्रहारी उस नगरकी गलीमें गया। वहाँके लोगोंने भी उसका इसी तरह महाअपमान किया। वहाँसे डेढ़ महीने बाद वह चौथी गलीमें डेढ़ मास तक रहा। वहाँ अनेक प्रकारके परिषहोंको सहन करके वह क्षमामें लीन रहा। और छठे मासमें अनन्त कर्म समुदायको जलाकर अत्यन्त शुद्ध होते-होते वह कर्म रहित हो गया। उसने सब प्रकारके ममत्वका त्याग किया। वह अनुपम कैवल्यज्ञान पाकर मुक्तिके अनन्त सुखानन्दसे युक्त हो गया। यह निर्जराभावना दृढ़ हुई। अब—

•

दशम चित्र

लोकस्वरूपभावना

लोकस्वरूपभावना—इस भावनाका स्वरूप यहाँ संक्षेपमें कहना है। जैसे पुरुष दो हाथ कमरपर रखकर पैरोंको चौड़ा करके खड़ा हो, वैसा ही लोक नाल अथवा लोकका स्वरूप जानना चाहिए। वह लोकस्वरूप तिरछे थालके आकारका है, अथवा खड़े मृदंगके

मृगापुत्रकी भाँति ज्ञानदर्शनचारित्ररूप दिव्य चिन्तामणिको परम सुख और परमानन्दकी प्राप्तिके हेतु आराधते हैं।

महर्षि मृगापुत्रका सर्वोत्तम चरित्र (ससार भावनाके रूपमे) ससार-परिभ्रमणकी निवृत्तिका और उसीके साथ अनेक प्रकारकी निवृत्तिका उपदेश देता है। इस परसे अन्तर्दर्शनका नाम निवृत्तिवोध रखकर आत्म-चारित्रकी उत्तमताका वर्णन करते हुए मृगापुत्रका चरित्र यहाँ पूर्ण होता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष निरन्तर ससारपरिभ्रमणकी निवृत्ति और सावद्य उपकरणकी निवृत्तिका पवित्र विचार करते रहते हैं।

इस प्रकार अन्तर्दर्शनके ससार-भावनारूप छठे चित्रमें
मृगापुत्रका चारित्र समाप्त हुआ।

●

सप्तम चित्र

आश्रव-भावना

बारह अविरति, सोलह कषाय, नव नोकषाय, पाँच मिथ्यात्व, और पन्द्रह योग ये सब मिलकर सत्तावन आश्रव-द्वार अर्थात् पापके प्रवेश होनेके नाले हैं।

दृष्टान्त—महाविदेहमे विशाल पुण्डरीकिणी नगरीके राज्य सिंहासनपर पुण्डरीक और कुण्डरीक नामके दो भाई आसीन थे। एक वार वहाँ तत्त्वविज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये। मुनिके वैराग्य वचनामृतसे प्रभावित होकर कुण्डरीक दीक्षानुरागी हुआ, और घर आनेपर उसने पुण्डरीकको राज्य सौंपकर चारित्र अंगीकार कर लिया। रूखा-सूखा आहार करनेके कारण थोडे ही समयमे वह रोग-ग्रस्त हो गया, जिससे अन्तमे वह चारित्रसे भ्रष्ट हो गया। उसने, पुण्डरीकिणी महानगरीकी अशोक वाटिकामे आकर रजोहरण,

मोक्षमाला

(बालावबोध)

उपोद्घात

निर्ग्रन्थ प्रवचनके अनुसार संक्षेपमें इस ग्रन्थकी रचना करता हूँ। प्रत्येक शिक्षा-विषयरूपी मोतीसे इसकी पूर्णाहुति होगी। आडम्बरी नाम ही गुरुत्वका कारण है, ऐसा समझते हुए भी परिणामतः अप्रभुत्व रहा होनेसे ऐसा किया है, वह उचित सिद्ध होओ! उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका उपदेश देनेवाले पुरुष कुछ कम नही हुए है; उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी कहीं उससे उत्तम अथवा समानतारूप नहीं है, किन्तु विनयके रूपमें उन उपदेशकोंके धुरन्धर प्रवचनोंके आगे यह कनिष्ठ है। यह भी प्रमाणभूत है कि प्रधान पुरुषके निकट अनुचरकी आवश्यकता है, उसी प्रकार वैसे धुरन्धर ग्रन्थके उपदेशरूप बीजारोपण एवं अंतःकरण कोमल करनेके लिए ऐसे ग्रन्थका प्रयोजन है।

इस प्रथम दर्शन और दूसरे अन्य दर्शनोंमें तत्त्वज्ञान तथा सुशीलकी प्राप्तिके लिए और परिणामतः अनन्त सुख-तरंगको प्राप्त करनेके लिए जो-जो साध्य-साधन श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्रने प्रकाशित किये है उनका स्वल्पतासे किंचित् तत्त्वसंचय करके उसमें महापुरुषोके छोटे-छोटे चरित्र एकत्र करके इस भावनाबोध और इस मोक्षमालाको विभूषित किया है। वह—"विदग्ध-मुखमंडनं भवतु"

(संवत् १९४३) कर्ता पुरुष

शिक्षण पद्धति और मुखमुद्रा

यह एक स्याद्वादतत्त्वावबोध वृक्षका बीज है। इस ग्रन्थमें तत्त्व

दृष्टान्त (१) (कुडरीकका अनुसम्बन्ध) कुडरीकके मुखपत्ती इत्यादि उपकरण ग्रहण करके पुडरीकने निश्चय किया कि मुझे पहले महर्षि गुरुके पास जाना, और उसके बाद ही अन्न जल ग्रहण करना चाहिये।

नगे पैरोंसे चलनेके कारण उसके पैरोमे ककरो और काँटोंके चुभनेसे खूनकी धारायें वह निकली, फिर भी वह उत्तम ध्यानमे समताभावसे अवस्थित रहा। इस कारण यह महानुभाव पुडरीक मरकर समर्थ सर्वार्थसिद्धि विमानमे तैंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुसहित देव हुआ। देखो! आस्रवसे कुडरीककी कैसी दु खदशा हुई और सवरसे पुडरीकको कैसी सुखदशा मिली।

दृष्टान्त (२)—श्री वज्रस्वामी सम्पूर्ण कचन और कामिनीके द्रव्यभावसे परित्यागी थे। एक बार, एक श्रीमन्तकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशको सुनकर उनपर मोहित हो गई। घर आकर उसने अपने माता-पितासे कहा कि—यदि मै इस शरीरसे किसीको अपने पतिके रूपमे स्वीकार करूँ तो केवल वज्रस्वामीको ही, अन्य किसीके साथ सम्बन्ध न करनेकी मेरी दृढ प्रतिज्ञा है। रुक्मिणीके माता-पिताने उसे बहुत-बहुत समझाया कि—"पगली! विचार तो कर कि कही मुनिराज विवाह करते है? उन्होंने तो आस्रव न होने देनेकी सच्ची प्रतिज्ञा ग्रहण की है।" तथापि रुक्मिणीने उनका कहना न माना। निरुपाय होकर धनावा सेठ बहुत-सा धन और अपनी रूपवती रुक्मिणीको साथमे लेकर वज्रस्वामीके निकट जा पहुँचा और उनसे निवेदन किया कि—"यह लक्ष्मी आपके चरणोमे अर्पित है, आप इसका यथेच्छ उपयोग कीजिये और वैभव विलासमे लगाइये तथा इस मेरी महासुकोमल रुक्मिणी नामकी पुत्रीके साथ पाणिग्रहण कीजिये।" इतना कह कर वह वापिस अपने घर चला आया।

यौवन-सागरमे तैरती हुई उस रूपकी राशि रुक्मिणीने वज्र-

इस पुस्तकको प्रसिद्ध करनेका मुख्य हेतु, उगते हुए नवयुवक जो अविवेकपूर्ण विद्या प्राप्त करके आत्मसिद्धिसे भ्रष्ट होते हैं उनकी वह भ्रष्टता रोकनेका भी है।

यथेच्छ उत्तेजन नही होनेसे लोगोंकी भावना कैसी होगी, इसका विचार किये विना ही यह साहस किया है; मैं मानता हूँ कि वह फलदायक होगा। पाठशालाओंमें पाठकोंको भेंटस्वरूप देनेमें उत्साहित होनेके लिए और जैन पाठशालाओंमें इसका अवश्य उपयोग करनेके लिए मेरा अनुरोध है। तव ही पारमार्थिक हेतु सिद्ध होगा।

शिक्षापाठ १ : वाचकसे अनुरोध

वाचक! मै आज तुम्हारे हस्तकमलमें आती हूँ। मुझे सावधानीपूर्वक पढ़ना। मेरे कहे हुए तत्त्वको हृदयमें धारण करना। मै जो-जो वात कहूँ उस पर विवेकपूर्वक विचार करना। यदि ऐसा करोगे तो तुम ज्ञान, ध्यान, नीति, विवेक, सद्‌गुण और आत्मशान्तिको पा सकोगे।

तुम जानते होगे कि वहुतसे अज्ञानी लोग नहीं पढ़ने योग्य पुस्तकें पढ़कर अपना समय वृथा खो देते है और कुमार्ग पर चढ़ जाते हैं। वे इस लोकमें अपयश पाते है तथा परलोकमें नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

तुमने जिन पुस्तकोंको पढ़ा है और अभी पढ़ते हो वे पुस्तकें मात्र संसारकी है, किन्तु यह पुस्तक तो इस भव और परभव दोनोंमें तुम्हारा हित करेगी। इसमें भगवान्‌के कहे हुए वचनोंका यत्किंचित् उपदेश किया है।

तुम इस पुस्तककी किसी भी प्रकारसे अविनय मत करना, इसे फाड़ना नहीं, धब्बे मत डालना अथवा इसे अन्य किसी भी प्रकारसे मत विगाड़ना। सारा काम विवेकसे लेना। विचक्षण पुरुषोंने कहा है कि जहाँ विवेक है वहीं धर्म है।

और दूसरी सकाम निर्जरा। निर्जरा भावनापर हम एक विप्र-पुत्रका दृष्टान्त कहते हैं।

दृष्टान्त—किसी ब्राह्मणने अपने पुत्रको सात व्यसनोंमें रुचिवान जानकर अपने घरसे निकाल दिया। वह वहाँसे निकल गया और उसने जाकर तस्कर-मण्डलीके साथ स्नेह-सम्बन्ध जोड लिया। उस मण्डलीके अग्रेसरने उसे अपने काममें पराक्रमी समझकर पुत्रके रूपमें स्थापित किया। वह विप्रपुत्र दुष्टोंका दमन करनेमें दृढप्रहारी सिद्ध हुआ, इससे उसका उपनाम दृढप्रहारी रखा गया। वह दृढप्रहारी चोरोंका अग्रणी बन गया और वह नगर, गाँवका नाश करनेमें बल-वान, हिम्मतवाला सिद्ध हुआ। उसने बहुतसे प्राणियोंके प्राण लिये। एक बार उसने अपने साथियोंको ले जाकर एक बडे नगरको लूटा। दृढप्रहारी एक विप्रके घर बैठा था, उस विप्रके यहाँ बडे ही प्रेम भावसे क्षीर भोजन (खीर) बनाया गया था। उस विप्रके मनोरथी बालक उस खीरके पात्रको घेरे बैठे थे। दृढप्रहारी उस खीर-पात्रको ज्यों ही छूने लगा कि ब्राह्मणी बोली—"हे मूर्खराज! तू इसे छूकर क्यों अपवित्र कर रहा है? तू इतना भी नहीं समझता कि तेरे छू लेनेपर फिर यह खीर हमारे काममें नहीं आएगी।" यह वचन सुन-कर दृढप्रहारीको प्रचण्ड क्रोध व्याप्त हो गया और उसने उस दीन स्त्रीको मार डाला। स्नान करता हुआ ब्राह्मण अपनी पत्नीकी सहा-यताके लिए दौडा हुआ आया, किन्तु उसने उसे भी परभवको पहुँचा दिया। इतनेमें घरमेंसे दौडती हुई गाय आई और उसने अपने सींगोंके द्वारा दृढप्रहारीको मारना प्रारम्भ किया किन्तु उस महा-दुष्टने उसे भी कालके गालमें पहुँचा दिया। उसी समय उस गायके पेटमेंसे एक बछडा निकल पडा। उसे तडपता हुआ देखकर दृढ-प्रहारीके मनमें अब भारी पश्चात्ताप हुआ कि मुझे धिक्कार है, मैंने बडी भयंकर घोर हिंसायें कर डालीं। मुझे अपने इस महापापसे कब छुटकारा मिलेगा? सचमुच! आत्म-कल्याणके सिद्ध करनेमें ही श्रेय है।

भगवान्‌ने अपने उपदेशमें कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नहीं है। दोषोंको नष्ट करनेके लिए अभयदानके साथ प्राणियोंको सन्तोष प्रदान करो ॥ २ ॥

सत्य, शील और सब प्रकारके दान, दयाके होने पर ही प्रमाण हैं। जिस प्रकार सूर्यके बिना किरणे दिखाई नहीं देतीं; उसी प्रकार दयाके न होने पर सत्य, शील और दानमेसे एक भी गुण नहीं है ॥३॥

एक पुष्पकी पँखुड़ीको भी कष्ट हो वैसी प्रवृत्ति करनेकी जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञा नही है। सर्व जीवोंके सुखकी कामना करना यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

सर्व दर्शनोंमें इस दयाका उपदेश है परन्तु, वहाँ एकान्त कथन है, विशिष्ट नही। सम्पूर्ण रूपसे दयाका उत्कृष्ट, निर्मल और अविरोध उपदेश श्री जिनेन्द्रदेवने दिया है ॥ ५ ॥

यह संसारसे पार उतारनेवाला सुन्दर मार्ग है, इसे उत्साहसे धारण करके संसारको पार करना चाहिये। यह सकल धर्मका शुभ मूल है। इसके बिना धर्म सदा प्रतिकूल रहता है ॥ ६ ॥

जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे पहचानते है वे शाश्वत सुखको प्राप्त करते है, राजचन्द्र कहते है कि शान्तिनाथ भगवान् करुणासे सिद्ध हुए हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

शिक्षापाठ ३ : कर्मके चमत्कार

मै तुमसे कुछ सामान्य विचित्रताएँ कह रहा हूँ। यदि तुम इन पर विचार करोगे तो तुम्हें परभवकी श्रद्धा दृढ होगी।

एक जीव सुन्दर, पलंग पर—पुष्प-शैयामें शयन करता है और एकको फटी हुई गुदडी भी नही मिलती। एक भाँति-भाँतिके भोजनोंसे तृप्त रहता है और एकको काली ज्वारके भी लाले पड़ते है। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी बादामके लिए घर-घर भटकता फिरता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता

समान है। नीचे भुवनपति व्यन्तर और सात नरक हैं, मध्य भागमें अढाई द्वीप हैं, ऊपर बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और उनके ऊपर अनन्त सुखमय पवित्र सिद्धगतिकी पडोसी सिद्ध-शिला है, ऐसा लोकालोक प्रकाशक सर्वज्ञ सर्वदर्शी और अनुपम केवल ज्ञानियोने कहा है। इस प्रकार सक्षेपमे लोकस्वरूप-भावनाका कथन पूर्ण हुआ।

पाप-प्रनालको रोकनेके लिए आस्रवभावना और सवरभावना तथा तपरूप महावृक्षकी वृद्धिके लिए निर्जराभावना एव लोकस्वरूपका किंचित् तत्त्व जाननेके लिए लोकस्वरूपभावना, इस दर्शनके इनचार चित्रोमे पूर्णताको प्राप्त हुई।

दशम चित्र समाप्त

ज्ञान, ध्यान, वैराग्यमय, उत्तम जहाँ विचार।
ए भावे शुभभावना, ते उतरे भव पार॥

(ज्ञान, ध्यान एव वैराग्यपूर्ण उत्तम विचारोंके साथ जो इन शुभभावनाओका चिन्तन करता है, वह ससारसे पार हो जाता है)

●

देहोंकी अपेक्षा उत्तम कहते हैं, किन्तु उत्तम कहनेका कारण सम्भवतः तुम्हें ज्ञात नहीं होगा इसलिये लो मैं कहूँ।

यह संसार बहुत दु:खसे भरा हुआ है। ज्ञानीजन इसमेंसे तिर कर पार होनेका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधकर वे अनन्त सुखमें विराजमान होते हैं। यह मोक्ष अन्य किसी देहसे मिलनेवाला नहीं है। देव, तिर्यच या नरक इनमेंसे किसी भी गतिसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता, केवल मानवदेहसे ही मोक्षकी प्राप्ति है।

अब तुम कहोगे कि सभी मनुष्योंको मोक्ष क्यों नही होता? इसका उत्तर भी मैं कह दूँ। जो मानवताको समझते हैं, वे संसार शोकसे पार हो जाते हैं। जिसमें विवेक बुद्धिका उदय हुआ हो उसे विद्वज्जन मानवता कहते हैं। उसके द्वारा सत्यासत्यके निर्णयको समझकर परमतत्त्व, उत्तम आचार और सद्धर्मका सेवन करके वे अनुपम मोक्षको पाते हैं। मनुष्यके शरीरकी दिखावटसे विद्वान् उसे मनुष्य नही कहते। परन्तु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते है। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँखे, दो कान, एक मुख, दो होठ और एक नाक हो, वह मनुष्य है ऐसा हमें नही मानना चाहिए, यदि ऐसा समझे तो हमें बन्दरको भी मनुष्य मानना चाहिए। उसने भी इसप्रकारका सब प्राप्त कियाहै; अपितु विशेपमें एक पूँछ भी है। तब क्या उसे महामनुष्य कहना चाहिए? नहीं नही। जो मानवता समझता है वही मानव कहा जाता है?

ज्ञानी लोग कहते हैं, कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अतिपुण्यके प्रभावसे इस देहकी प्राप्ति होती है; इसलिए इसके द्वारा शीघ्रतासे आत्मसार्थक कर लेना चाहिए। अयमतकुमार, गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मानवताको समझनेसे मोक्षको प्राप्त हुए। मनुष्यमें जो विशेष शक्ति है उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको भी वशमें कर लेता है इसी शक्तिके द्वारा यदि वह अपने मनरूपी

प्राप्तिके लिए जिज्ञासा उत्पन्न कर सकनेका कुछ अंशोमे भी सामर्थ्य विद्यमान है, यह मैं समभावसे कहता हूँ। पाठक और वाचक वर्गसे विशेष अनुरोध है कि शिक्षापाठका पठन-पाठन करनेकी अपेक्षा यथाशक्ति मनन करना और उसके तात्पर्यका अनुभव करना, जिनकी समझमें न आता हो उन्हे ज्ञाता शिक्षक अथवा मुनियोके द्वारा समझना और यदि ऐसा योग न मिले तो पाँच-सात बार उन पाठोको पढ लेना। एक पाठको पढ लेनेके बाद आधा घडी विचार करके अन्तःकरणसे पूछना चाहिए कि क्या तात्पर्य प्राप्त हुआ ? उस तात्पर्यमेसे हेय, ज्ञेय और उपादेय क्या है ? इसपर विचार करना। ऐसा करनेमे सम्पूर्ण ग्रन्थ समझमे आ सकेगा। हृदय कोमल होगा, विचारशक्ति विकसित होगी और जैन तत्त्वपर सम्यक् श्रद्धा होगी। यह ग्रन्थ केवल पाठ करनेके लिए नही, किन्तु मनन करनेके लिए है। इसमे अर्थरूप शिक्षाकी योजना की है। वह योजना "बालावबोध" रूप है। "विवेचन" और "प्रज्ञावबोध" भाग भिन्न है, यह इसमेका एक अंश है, तथापि सामान्य तत्त्वरूप है।

जिन्हे स्वभाषा सम्बन्धी अच्छा ज्ञान है और नौ तत्त्व तथा सामान्य प्रकरण ग्रन्थोको जो समझ सकते हैं उन्हे यह ग्रन्थ विशेष बोधदायक सिद्ध होगा। इतना अवश्य अनुरोध है कि छोटे बालकोको इन शिक्षापाठोका तात्पर्य विधिपूर्वक समझाना चाहिये।

ज्ञानशालाके विद्यार्थियोको शिक्षापाठ कण्ठस्थ कराना चाहिये, और बारबार समझाना चाहिये। इसके लिए जिन-जिन ग्रन्थोकी सहायता लेना आवश्यक हो वह ली जाय। एक दो बार सम्पूर्ण पुस्तक सीख लेनेपर फिर उसे उल्टे—पीछेसे चलाना चाहिए।

मैं समझता हूँ कि सुज्ञवर्ग इस पुस्तककी ओर कटाक्ष दृष्टिसे नही देखेगा। अतिगहन चिन्तन करनेपर यह मोक्षमाला मोक्षका कारणरूप बन जायेगी। इसमे मध्यस्थतापूर्वक तत्त्वज्ञान और शीलका बोध देनेका उद्देश्य है।

निकल रहा है। अहो ! इनकी कैसी निर्लोभता दीखती है ! यह संयति कैसी निर्भय नम्रता धारण किये हुए हैं ! यह भोगसे कैसे विरक्त है ! इसप्रकार चिन्तवन करते-करते, आनन्दित होते-होते, स्तुति करते-करते, धीरे-धीरे चलते हुए प्रदक्षिणा देकर उन मुनिको वंदन करके न अति-समीप और न अति-दूर ऐसे वह श्रेणिक बैठा। वादमें दोनों हाथोंको जोड़कर विनयसे उसने उन मुनिसे पूछा— "हे आर्य ! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं; भोग-विलासके लिए आपकी वय अनुकूल है; संसारमे नाना-प्रकारके सुख विद्यमान हैं। ऋतु-ऋतुके काम-भोग, जल सम्बंधी विलास तथा मनोहारिणी स्त्रियोके मुख-वचनोंका मधुर श्रवण होते हुए भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमें आप महा उद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण है ? यह मुझे अनुग्रह करके कहिए।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—"हे राजन् ! मै अनाथ था। मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानेवाला, योगक्षेमका करनेवाला, मुझ पर अनुकम्पा लानेवाला, करुणासे परम-सुखको देनेवाला कोई मेरा मित्र नही हुआ। यह कारण मेरे अनाथीपनेका था।"

शिक्षापाठ ६ : अनाथी मुनि–भाग २

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे किंचित् हास्य करके बोले, "आप जैसे महाऋद्धिवन्तके नाथ क्यों न हो ? यदि कोई नाथ नहीं है तो मै होता हूँ। हे भयत्राण ! आप भोग भोगिये। हे संयति ! मित्र, जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्यभवको सुलभ कीजिए !" अनाथीने कहा—'अरे श्रेणिक राजा ! परन्तु तू तो स्वयं अनाथ है, तो मेरा नाथ क्या होगा ? जो निर्धन है वह धनाढ्य कहाँसे बनायेगा ? अबुधजीव बुद्धिदान कहाँसे देगा ? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे देगा ? वंध्या सन्तान कहाँसे देगी ? जब तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ क्योंकर बनेगा ?' मुनिके वचनसे राजा अति आकुल

तुमसे एक यह भी अनुरोध है कि जिन्हे पढना न आता हो और उनकी इच्छा हो तो यह पुस्तक उन्हे क्रमश पढकर सुनाना ।

तुम्हे जो बात समझमे न आवे वह समझदार पुरुषोसे समझ लेना । समझनेमे आलस्य या मनमे कोई शका मत करना ।

इससे तुम्हारे आत्माका हित हो, तुम्हे ज्ञान, शान्ति और आनन्द प्राप्त हो, तुम परोपकारी, दयालु, क्षमावान्, विवेकी और बुद्धिशाली बनो ऐसी शुभ याचना अर्हत् भगवान्‌के प्रति करके मै यह पाठ पूर्ण करता हूँ ।

शिक्षा पाठ २ : सर्वमान्यधर्म

(चौपाई)

धर्मतत्त्व जो पूछयु मने, तो सभळावु स्नेहे तने,
जे सिद्धान्त सकळनो सार, सर्वमान्य सहुने हितकार ॥ १ ॥
भाख्यु भाषणमा भगवान्, धर्म न बीजो दया समान,
अभयदान साथे सतोष, द्यो प्राणीने, दळवा दोष ॥ २ ॥
सत्य शीळने सघळा दान, दया होईने रह्या प्रमाण,
दया नहीं तो ए नहीं एक, विना सूर्य किरण नहीं देख ॥ ३ ॥
पुष्पपाखडी ज्या दूभाय, जिनवरनी त्या नहीं आज्ञाय,
सर्व जीवनु इच्छो सुख, महावीरनी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥
सव दर्शने ए उपदेश, ए एकान्ते, नहीं विशेष,
सर्व प्रकारे जिननो बोध, दया दया निर्मळ अविरोध ॥ ५ ॥
ए भवतारक सुन्दर राह, धरिये तरिये करी उत्साह,
धर्म सकळनु ए शुभ मूळ, ए वण धर्म सदा प्रतिकूळ ॥ ६ ॥
तत्त्वरूपथी ए ओळखे, ते जन पहोचे शाश्वत सुखे,
शातिनाथ भगवान प्रसिद्ध, राजचन्द्र करुणाए सिद्ध ॥ ७ ॥

जो धर्मका तत्त्व मुझसे पूछा है तो वह तुझे स्नेहपूर्वक सुनाता हूँ । यह धर्मतत्त्व सकल-सिद्धान्तका सार है, सर्वमान्य है और सर्व-को हितकारी है ॥ १ ॥

दूर करनेके लिए मेरे पिताने सम्पूर्ण धन देना प्रारम्भ किया, परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नहीं हुई। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी माता पुत्रके दुःखमें अत्यन्त दुःखार्त थी, परन्तु वह भी मुझे उस रोगसे मुक्त नहीं करा सकी। हे राजन ! यही मेरा अनाथपना था। मेरे सहोदर वड़े और छोटे भाई भी जितना बन सका वह सव परिश्रम कर चुके, परन्तु मेरी वह वेदना दूर न हुई। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी सहोदरा बडी और छोटी वहिनोसे भी मेरा वह दुःख दूर नहीं हुआ। हे महाराजा ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी पतिव्रता स्त्री, जो मुझपर अनुरक्त और प्रेमवती थी वह अपने आँसुओंसे हृदयको भिगोती थी, उसके अन्न पानी देनेपर भी और नाना प्रकारके उबटन, चुवा आदि सुगंधित पदार्थ, तथा अनेक प्रकारके फूल चन्दन आदिके जाने-अनजाने विलेपन किये जानेपर भी, मैं उस विलेपनसे अपने रोगको शान्त नहीं कर सका। क्षण भर भी अलग न रहनेवाली वह स्त्री भी मेरे रोगको दूर नही कर सकी। हे महाराजा ! यही मेरा अनाथपना था। इस तरह किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे और किसीके परिश्रमसे वह रोग शान्त न हुआ, और मैने उस समय वारम्वार असह्य वेदना भोगी। तत्पश्चात् मुझे प्रपञ्ची संसारके प्रति खेद उत्पन्न हुआ। एक वार यदि इस महा विडम्बनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खंती, दंती और निरारम्भी प्रव्रज्याको धारण करूँ ऐसा विचार करके मै सो गया। जब रात व्यतीत हो गई तव हे महाराज ! मेरी वह वेदना क्षय हो गई और मैं निरोगी हो गया। तब मैने माता, पिता, स्वजन-बांधव आदिसे पूछकर प्रात.काल महाक्षमा-वन्त, इन्द्रियनिग्रही और आरम्भोपाधिसे रहित अनगारत्व धारण किया।

है और एक अवाचक जैसा होकर रहता है। एक सुन्दर वस्त्रालकारसे विभूपित होकर फिरता है और एकको प्रखर शीतकालमे ओढनेको फटा कपडा भी नही मिलता। एक रोगी है और एक प्रवल है। एक वुद्धिशाली है और एक जडभरत है। एक मनोहर नयनवाला है और एक अन्धा है। एक लूला है और एक लँगडा है। एक कीर्तिमान है और एक अपयश भोगता है। एक लाखो अनुचरो पर हुक्म चलाता है और एक लाखोके ताने सहन करता है। एकको देखकर आनन्द होता है और एकको देखकर वमन होता है। एक सम्पूर्ण इन्द्रियो-वाला है और एक अपूर्ण है। एकको दीन दुनियाका लेशमात्र भान नही है और एकके दु खकी सीमा नही है।

कोई गर्भमे आते ही मरणको प्राप्त होता है, एक जन्म लेते ही तुरत मर जाता है, कोई मरा हुआ अवतरा तो कोई सौ वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, भापा और स्थिति समान नही है, मूर्ख राजगद्दी पर क्षेम-क्षेमके उद्‌गारोसे वधाई पाते हैं और समर्थ विद्वान् धक्का खाते है।

इस प्रकार समस्त जगत्‌की विचित्रता भिन्न-भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो, क्या इस परसे तुम्हे कोई विचार आता है? मैंने कहा है, फिर भी विचार आता हो तो कहो कि यह विचित्रता किस कारणसे होती है?

अपने वाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे समस्त ससारमे भ्रमण करना पडता है। परभव नही माननेवाले स्वय ये विचार किसके द्वारा करते हैं? इस पर यथार्थ विचार करें तो अपनी यह वात वे भी मान्य रखें।

शिक्षापाठ ४ मानवदेह

[1]तुमने सुना तो होगा कि विद्वान् लोग मानव देहको अन्य सव

---

१ देखो भावनाबोध, पचम चित्र प्रमाणशिक्षा।

महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावन्त, महायशवन्त, महानिर्ग्रन्थ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजा श्रेणिकको अपने बीते हुए अनुभूत चरित्रसे जो उपदेश दिया वह सचमुच अशरणभावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की गई वेदनाओंके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष वेदनाको, अनन्त आत्माओंको भोगते हुए हम देखते हैं, यह कैसा विचारणीय है! संसारमें अशरणता और अनन्त अनाथता छाई हुई है। उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीलके सेवन करनेसे ही होता है। यही मुक्तिका कारण है। जैसे संसारमें रहते हुए अनाथी अनाथ थे उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके विना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिए सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ८ : सत्‌देवतत्त्व

हमें तीन तत्त्व अवश्य जान लेने चाहिएँ। जब तक इन तीन तत्त्वोंके सम्बन्धमें अज्ञानता रहती है तब तक आत्महित नहीं होता। ये तीन तत्त्व हैं—सत्‌देव, सत्‌धर्म और सत्‌गुरु। इस पाठमें में सत्‌देवस्वरूपके सम्बन्धमें कुछ कहता हूँ।

जिन्हें कैवल्यज्ञान और कैवल्यदर्शन प्राप्त होता है, जो कर्म समुदायको महाउग्र तपोध्यानके द्वारा विशोधन करके जला देते हैं, जिन्होंने चन्द्रमा और शंखसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यान प्राप्त किया है, चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होते हुए भी जो संसारको एकान्त अनन्त शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते हैं, जो केवल दया, शान्ति, क्षमा, वीतरागता और आत्मसमृद्धि से त्रिविध तापका लय करते हैं, जो संसारमें मुख्यताको प्राप्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंको भस्मीभूत करके आत्म स्वरूपमें विहार करते हैं, जो सर्व कर्मोंके मूलको भस्म कर देते हैं, जो केवल मोहनीजन्य कर्मका त्याग करके निद्रा जैसी

हाथीको वशमे कर ले तो कितना कल्याण हो!

किसी भी अन्य देहमे पूर्ण सद्‌विवेकका उदय नही होता और मोक्षके राजमार्गमे प्रवेश नही हो सकता। इसलिए हमे मिले हुए इस बहुत दुर्लभ मानव देहको सफल कर लेना आवश्यक है। बहुतसे मूर्ख दुराचारमे, अज्ञानमे, विषयमे और अनेक प्रकारके मदमे इस प्राप्त मानव देहको वृथा गुमा देते है, अमूल्य कौस्तुभ खो बैठते है। ऐसे लोग नाम मात्रके मानव कहे जा सकते है, अन्यथा वे वानर-रूप ही है।

मौतकी पल निश्चितरूपसे हम नही जान सकते, इसलिए जैसे बने वैसे धर्ममे तत्काल सावधान होना चाहिए।

शिक्षापाठ ५ अनाथी मुनि—भाग १

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगधदेशका राजा श्रेणिक अश्व-क्रीडाके लिए मडिकुक्ष नामके वनमे निकल पडा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। वहाँ नाना-प्रकारके वृक्ष खडे थे, नाना-प्रकारकी कोमल वले घटाटोप छाई हुई थी। नाना-प्रकारके पक्षी आनन्दसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना-प्रकारके पक्षियोके मधुर गान वहाँ सुनाई पडते थे, नाना-प्रकारके फूलोसे वह वन छाया हुआ था, नाना-प्रकारके जलके झरने वहाँ बहते थे, सक्षेपमे, वह वन नन्दन-वन जैसा लगता था। उस वनमे एक वृक्षके नीचे महा समाधिवन्त किन्तु सुकुमार और सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। उनका रूप देखकर उस राजाको अत्यन्त आनन्द हुआ। उनके अनुपमेय रूपसे विस्मित होकर वह मन ही मन उनकी प्रशसा करने लगा। अहो! इन मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! इनका कैसा मनोहर रूप है! इनकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाके धारक है! इनके अगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश

१. **द्रव्यदया**—जो भी काम किया जाये उसमें यत्नपूर्वक जीव-रक्षा करके प्रवृत्ति करना सो 'द्रव्यदया' है।

२. **भावदया**—दूसरे जीवको दुर्गतिमें जाते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धिसे उपदेश देना 'भावदया' है।

३. **स्वदया**—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको प्राप्त नहीं होता, जिनाज्ञाका पालन नहीं कर सकता, इस प्रकार चिन्तवन करके धर्ममें प्रवेश करना 'स्वदया' है।

४. **परदया**—छह कायके जीवोंकी रक्षा करना 'परदया' है।

५. **स्वरूपदया**—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूपका विचार करना 'स्वरूपदया' है।

६. **अनुबन्धदया**—गुरु अथवा शिक्षक शिष्यको कटु वचन कहकर जो उपदेश देते हैं वे देखनेमें तो अयोग्य मालूम होते हैं किन्तु परिणाममें करुणाके कारण हैं, इसका नाम 'अनुबन्धदया' है।

७. **व्यवहारदया**—उपयोग पूर्वक और विधिपूर्वक दयाका पालन करना 'व्यवहारदया' है।

८. **निश्चयदया**—शुद्ध साध्य उपयोगमें एकताभाव और अभेद उपयोगका होना 'निश्चयदया' है।

इस आठ प्रकारकी दयाको लेकर भगवान्‌ने व्यवहारधर्म कहा है। इसमें सभी जीवोंका सुख, सन्तोष और अभयदान यह समस्त विचार पूर्वक देखनेपर आ जाते हैं।

(२) निश्चयधर्ममें अपने स्वरूपके भ्रमको दूर करना, आत्माको आत्मभावसे पहचानना। यह संसार मेरा नहीं है, मैं इससे भिन्न, परम असंग सिद्धसदृश शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसी आत्मस्वभावरूप वर्तना वह निश्चयधर्म है।

जहाँ किसी प्राणीको दुःख, अहित अथवा असन्तोष होता है वहाँ दया नही और जहाँ दया नही वहाँ धर्म नहीं। अरहन्त भगवान्‌के कहे हुए धर्मतत्त्वसे सभी प्राणी अभयको प्राप्त होते हैं।

अनुक्रमणिका

भावनाबोध—द्वादशानुप्रेक्षास्वरूप-दर्शन

मोक्षमाला (बालावबोध)

न्धमें मुझे कहा है। इससे पार पानेके लिए धर्म ही सहायभूत है। तब धर्म कैसे गुरुसे प्राप्त करे तो श्रेयस्कर हो यह कृपाकर मुझे कहिए।

शिक्षापाठ ११ : सद्गुरुतत्व—भाग २

पिता—पुत्र ! गुरु तीन प्रकारके कहे जाते हैं—(१) काष्ठ-स्वरूप (२) कागजस्वरूप (३) पत्थरस्वरूप।

(१) काष्ठस्वरूप गुरु सर्वोत्तम हैं; क्योंकि संसाररूपी समुद्रको काष्ठस्वरूप गुरु ही पार करते हैं; और दूसरोंको पार कर सकते हैं।

(२) कागजस्वरूप गुरू मध्यम हैं वे संसार-समुद्रको स्वयं पार नहीं कर सकते, परन्तु कुछ पुण्य उपार्जन कर सकते हैं। ये दूसरेको पार नहीं कर सकते।

(३) पत्थरस्वरूप गुरु स्वयं डूबते हैं और दूसरोंको भी डुबाते हैं।

काष्ठस्वरूप गुरु केवल जिनेश्वर भगवान्‌के शासनमें है। बाकी दो प्रकारके गुरु कर्मावरणकी वृद्धि करनेवाले हैं। हम सब उत्तम वस्तुको चाहते है, और उत्तमसे उत्तम वस्तुएँ मिल सकती हैं। गुरु यदि उत्तम हो तो भव समुद्रमे नाविक रूप होकर सद्धर्म-नावमें बैठा कर पार पहुँचा दे। तत्त्वज्ञानके भेद, स्वस्वरूप भेद, लोकालोक विचार, संसार-स्वरूप यह सब उत्तम गुरुके बिना नही मिल सकता। तुझे प्रश्न करनेकी इच्छा होगी कि ऐसे गुरुके कौन-कौनसे लक्षण है ? सो मै कहता हूँ। जो जिनेश्वर भगवान्‌की कही हुई आज्ञाको जाने, उसको यथार्थ रूपसे पाले और दूसरोंको उपदेश करे, कंचन और कामिनीके सर्वभावसे त्यागी हों, विशुद्ध आहार जल लेते हों, बाईस प्रकारके परीषह सहन करते हों, क्षांत, दान्त, निरारंभी और जितेन्द्रिय हों, सैद्धान्तिक ज्ञानमें निमग्न रहते हों, केवल धर्मके लिए ही शरीरका निर्वाह करते हों, निर्ग्रन्थपंथकी पालनामें कायर न हो, सीक तक भी बिना दिये न लेते हों, सब प्रकारके रात्रिभोजनके

और अति विस्मित हुआ। इसने पूर्व कभी जो वचन नही सुने थे ऐसे वचन यतिके मुखसे सुनकर वह शक्ति हुआ और बोला— "मै अनेक प्रकारके अश्वोका भोगी हूँ, अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोका स्वामी हूँ, अनेक प्रकारकी सेना मेरे आधीन है, नगर, ग्राम, अन्त पुर और चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नही है, मनुष्य सम्बन्धी सब प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हैं, अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति पालन करते हैं, मेरे यहाँ पाँचो प्रकारकी सम्पत्ति विद्य-मान है, अनेक मनवाछित वस्तुएँ मेरे पास हैं। मै ऐसा महान् होते हुए भी अनाथ कैसे हो सकता हूँ? कदाचित् हे भगवन्! आपने मिथ्या कहा हो।" मुनिने कहा, "राजन्! मेरे कहनेको तू न्यायपूर्वक नही समझा। अब मै जैसे अनाथ हुआ, और जैसे मैने ससारका त्याग किया वह तुझे कहता हूँ। उसे एकाग्र और साव-धान चित्तसे सुन। सुननेके बाद तू अपनी शकाका सत्यासत्य निर्णय करना —

"कोशाम्बी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी भव्य-तासे भरपूर एक सुन्दर नगरी है। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसचय नामके मेरे पिता रहते थे। हे महाराज! यौवनके प्रथम भागमे मेरी आँखे अति वेदनासे घिर गई और समस्त शरीरमे अग्नि जलने लगी। शस्त्रसे भी अति तीक्ष्ण यह रोग शत्रुकी भाँति मुझपर कुपित हो गया। आँखोकी उस असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। वज्रके प्रहार जैसी, दूसरोको भी रौद्र भय उपजाने वाली इस दारुण वेदनासे मै अत्यन्त शोकमे था। वैद्यक शास्त्रमे निपुण बहुतसे वैद्यराज मेरी इस वेदनाको दूर करनेके लिए आये और उन्होंने अनेक औषध-उपचार किये, परन्तु वे सब वृथा हुए। वे महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त न कर सके। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी आँखकी वेदनाको

याचकको क्षुधातुर नहीं रखते।

सत्पुरुषोंका समागम, और उनका उपदेश धारण करते हैं।

निरन्तर मर्यादासहित और सन्तोषयुक्त रहते हैं।

यथाशक्ति शास्त्रोंका संचय जिसके घरमें है।

जो अल्प आरंभसे व्यवहार चलाते हैं।

ऐसा गृहस्थावास उत्तम गतिका कारण होता है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं।

शिक्षापाठ १३ : जिनेश्वरकी भक्ति—भाग १

जिज्ञासु—विचक्षण सत्य ! कोई शंकरकी, कोई ब्रह्माकी, कोई विष्णुकी, कोई सूर्यकी, कोई अग्निकी, कोई भवानीकी, कोई पैगम्बर-की और कोई ईसुख्रीस्तकी भक्ति करता है, ये लोग भक्ति करके क्या आशा करते होंगे ?

सत्य—प्रिय जिज्ञासु ! वे भाविक-भक्त लोग मोक्ष प्राप्तिकी परम आशासे इन देवोंको भजते हैं।

जिज्ञासु—तब फिर कहिये कि वे लोग इससे उत्तम गतिको प्राप्त कर लेंगे, ऐसा आपका मत है ?

सत्य—इनकी भक्ति करनेसे वे मोक्ष पा सकेंगे, ऐसा मैं नहीं कह सकता। ये लोग जिन्हें परमेश्वर कहते हैं वे स्वयं मोक्षको प्राप्त नहीं हुए हैं, तब फिर वे उपासकको मोक्ष कहाँसे दे देंगे ? शंकर इत्यादि कर्मोंका क्षय नहीं कर सके और वे दूषणोंसे युक्त है, इसलिये वे पूज्य नहीं है।

जिज्ञासु—कहिये, वे दूषण कौन-कौनसे हैं ?

सत्य—[1]अज्ञान, काम, हास्य, रति, अरति आदि मिलाकर कुल

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, भय, शोक, जुगुप्सा, दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्त-राय, उपभोगान्तराय, काम, हास्य, रति और अरति'—ये अठारह।

शिक्षापाठ ७ : अनाथी मुनि—भाग ३

हे श्रेणिक राजा! तत्पश्चात् मैं आत्मा-परात्माका नाथ हुआ। अब मैं सब प्रकारके जीवोंका नाथ हूँ। तुझे जो शका हुई थी वह अब दूर हो गई होगी। इस प्रकार समस्त जगत—चक्रवर्ती पर्यन्त अशरण और अनाथ है। जहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है। इसलिए जो मैं कहता हूँ उस कथनका तू मनन करना। निश्चय मानना कि अपना आत्मा ही दु खकी भरी हुई वैतरणीका करनेवाला है, अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दु खोको उत्पन्न करनेवाला है, अपना आत्मा ही वाछित वस्तुरूपी दुधारू कामधेनु-गायके सुखको उत्पन्न करनेवाला है, अपना आत्मा ही नन्दनवनकी भाँति आनन्दकारी है, अपना आत्मा ही कर्मको करनेवाला है, अपना आत्मा ही उस कर्मको टालनेवाला है, अपना आत्मा ही दु खोपार्जन करनेवाला है, अपना आत्मा ही सुखोपार्जन करनेवाला है, अपना आत्मा ही मित्र और अपना आत्मा ही शत्रु है, अपना आत्मा ही जघन्य आचारमे स्थित और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमे स्थित रहता है।

इस प्रकार श्रेणिकको उस अनाथी मुनिने आत्म-प्रकाशक उपदेश दिया। श्रेणिक राजाको बहुत सन्तोष हुआ। वह दोनो हाथोको जोडकर इस प्रकार बोला—'हे भगवन्! आपने मुझे भलीभाँति उपदेश दिया, आपने जैसा था वैसा अनाथपना कह बताया। महर्षि! आप सनाथ, आप सबाधव और आप सधर्म हैं। आप सभी अनाथोंके नाथ है। हे पवित्र सयति! मैं क्षमायाचना करता हूँ। आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मुझे लाभ हुआ है। धर्मध्यानमे विघ्नकारक भोग भोगनेके सम्बन्धमे हे महाभाग्यवन्त! मैंने आपको जो आमन्त्रण दिया, उस सम्बन्धमे अपने अपराधको मस्तक पर धारण करके क्षमायाचना करता हूँ।" इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया।

षार्थकी आवश्यकता है। सर्वकर्मदलको क्षय करके[1] 'अनन्तजीवन, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनसे निज स्वरूपमय हुए' ऐसे जिनेश्वरोंका स्वरूप निश्चयनयसे ऋद्धि होनेसे[2] वह पुरुषार्थ प्रदान करता है, विकारसे विरक्त करता है, शान्ति और निर्जरा देता है। जैसे हाथमें तलवार लेनेसे शौर्य और भंगसे नशा उत्पन्न होता है, वैसे ही गुणोंका चिन्तवन करनेसे आत्मा स्वरूपानन्दकी श्रेणी पर चढ़ता जाता है। हाथमें दर्पण लेते ही जैसे मुखाकृतिका भान होता है, वैसे ही सिद्ध या जिनेश्वर-स्वरूपके चिन्तवनरूप दर्पणसे आत्मस्वरूपका भान होता है।

शिक्षापाठ १४ : जिनेश्वरकी भक्ति—भाग २

जिज्ञासु—आर्य सत्य ! सिद्धस्वरूपको प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य हैं; तो फिर नामसे भक्ति करनेकी कुछ आवश्यकता है ?

सत्य—हाँ, अवश्य है। अनन्त सिद्धस्वरूपका ध्यान करते हुए शुद्धस्वरूपका विचार होना तो कार्य है परन्तु वे जिसके द्वारा उस स्वरूपको प्राप्त हुए वह कारण कौन सा है ? इसका विचार करने पर उनके उग्र-तप, महान् वैराग्य, अनन्त दया, महान् ध्यान आदि सबका स्मरण हो आयेगा और अपने अर्हत तीर्थंकर पदमें वे जिस नामसे विहार करते थे, उस नामसे उनके पवित्र आचार और पवित्र चरित्रका अंत.करणमें उदय होता है। यह उदय परिणाममें महा लाभदायक है। उदाहरणके लिये महावीरका पवित्र नाम—स्मरण करनेसे वे कौन थे ? कब हुए ? उन्होने किस प्रकारसे सिद्धि पायी इत्यादि चरित्रोंकी स्मृति होगी और इससे हमारे वैराग्य, विवेक

१. 'अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तवीर्य और स्व-स्वरूपमय हुए।'

२. उन भगवान्का स्मरण, चिन्तवन, ध्यान और भक्ति पुरुपार्थत्व प्रदायक है।

तीव्र वस्तुको सर्वथा दूर करके क्षीण हुए कर्मोके रहने तक उत्तम शीलका सेवन करते हैं, जो वीतरागतासे कर्म-ग्रीष्मसे अकुलाये हुए पामर प्राणियोको परम शान्ति प्राप्त करानेके लिए शुद्ध बोधबीजका मेघधारा-वाणी (अविरलशब्दघनौघा) से उपदेश करते है, जिन्हे किसी भी समय किंचित्मात्र भी सासारिक वैभवविलासका स्वप्नाश भी शेष नही रहा, जो कमदलको क्षय करनेके पूर्व छद्मस्थता जानकर अपनी श्रीमुख-वाणीसे उपदेश नही करते, जो पाँच प्रकारके अन्तराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा और काम इन अठारह दूषणोसे रहित हैं, जो सच्चिदानन्द स्वरूपसे विराजमान हैं और जिनमे महाउद्योतकर बारह गुण प्रगट होते है, जिनका जन्म, मरण और अनन्त ससार नष्ट हो गया है उन्हे निर्ग्रन्थ आगममे सत्देव कहा गया है। वे दोष रहित शुद्ध आत्म स्वरूपको प्राप्त होनेसे पूज्य परमेश्वर कहे जाते हैं। जहाँ अठारह दोषोमे से एक भी दोष होता है वहाँ सत्देवका स्वरूप नही बनता। यह परमतत्त्व उत्तम सूत्रोंसे विशेष जान लेना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ९ : सद्धर्मतत्त्व

यह आत्मा अनादि कालसे कर्मजालके बन्धनमे बद्ध होकर ससारमे भटकता रहता है। उसे क्षण भरको भी सच्चा सुख प्राप्त नही होता। वह अधोगतिका सेवन किया करता है, और अधोगतिमे गिरते हुए आत्माको रोक रखनेवाली वस्तुका नाम 'धर्म' कहलाता है। सर्वज्ञ भगवान्ने उस धर्मतत्त्वके भिन्न-भिन्न भेद कहे हैं, उनमेंसे मुख्य दो भेद हैं—(१) व्यवहार धर्म (२) निश्चय धर्म।

(१) व्यवहारधर्ममे दया मुख्य है। शेष चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके लिए हैं। दयाके आठ भेद हैं—१ द्रव्यदया, २ भावदया, ३ स्वदया, ४ परदया, ५ स्वरूपदया, ६ अनुबन्धदया, ७ व्यवहारदया, ८ निश्चयदया।

जनोंको भी सुखदायक हों।[1]

शिक्षापाठ १५ : भक्तिका उपदेश

(तोटक छन्द)

शुभ शीतळतामय छांह रही, मनवांछित ज्यां फळपंक्ति कही।
जिनभक्ति ग्रहो तरुकल्प अहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ १ ॥
निज आत्मस्वरूप मुदा प्रगटे, मन ताप उताप तमाम मटे।
अति निर्जरता वणदाम ग्रहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ २ ॥
समभावी सदा परिणाम थशे, जडमंद अधोगति जन्म जशे।
शुभमंगळ आ परिपूर्ण चहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ ३ ॥
शुभभाव वडे मन शुद्ध करो, नवकार महापदने समरो।
नहि एह समान सुमंत्र कहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ ४ ॥
करशो क्षय केवळ राग-कथा, धरशो शुभ तत्त्वस्वरूप यथा।
नृपचन्द्र प्रपंच अनन्त दहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ ५ ॥

जिसकी शुभ शीतलतामय छाया है, जिसमें मनोवांछित फलोंकी पंक्ति लगी है ऐसी कल्पवृक्षरूपी जिनभक्तिका आश्रय लो, और भगवान्‌की भक्ति करके भवके अन्तको प्राप्त करो ॥१॥

इससे आनन्दमय अपना आत्मस्वरूप प्रगट होता है, और मन-का समस्त संताप मिट जाता है, तथा विना दामोंके ही कर्मोंकी अत्यन्त निर्जरा होती है। इसलिये भगवान्‌की भक्ति करके भवके

---

१. उनके परम उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे भी शुभ वृत्तियोंका उदय होता है। जैसे-जैसे श्री जिनेन्द्रके स्वरूपमे वृत्ति लय होती है वैसे-वैसे परम शान्ति प्रगट होती है। इस प्रकार जिन-भक्तिके कारणोको यहाँ संक्षेपमे कहा है, आत्मार्थियोको उनका विशेष रूपसे मनन करना चाहिये।

शिक्षापाठ १० सद्गुरुतत्त्व—भाग १

पिता—पुत्र ! तू जिस शालामें पढने जाता है उस शालाका शिक्षक कौन है ?

पुत्र—पिताजी ! एक विद्वान् और समझदार ब्राह्मण है।

पिता—उनकी वाणी, चालचलन आदि कैसे है ?

पुत्र—उनकी वाणी बहुत मधुर है वे किसीको अविवेकसे नहीं बुलाते और बहुत गम्भीर हैं, जब बोलते हैं तब मानो मुखमे फूल झरते हैं। वे किसीका अपमान नहीं करते, और हमे भलीभाँति समझाकर शिक्षा देते हैं।

पिता—तू वहाँ किस कारणसे जाता है सो मुझे कह तो सही।

पुत्र—आप ऐसा क्यो कहते है, पिताजी ! ससारमे विचक्षण होनेके लिए युक्तियोको समझूँ, व्यवहार नीतिको सीखूँ, इस हेतुमे आप मुझे वहाँ भेजते हैं।

पिता—तेरे शिक्षक यदि दुराचारी अथवा ऐसे ही होते तो ?

पुत्र—तब तो बहुत बुरा होता। हमें अविवेक और कुवचन बोलना आता, व्यवहार नीति तो फिर सिखलाता ही कौन ?

पिता—देख पुत्र, इस परसे मैं अब तुझे एक उत्तम शिक्षा कहूँ। जैसे ससारमे पढनेके लिये व्यवहार नीति सीखनेका प्रयोजन है, वैसे ही परभवके लिए धर्मतत्त्व और धर्मनीतिमे प्रवेश करनेका प्रयोजन है। जैसे यह व्यवहार नीति सदाचारी शिक्षकसे उत्तम प्रकारसे मिल सकती है वैसे ही परभवमे श्रेयस्कर धर्मनीति उत्तम गुरुसे ही मिल सकती है। व्यवहारनीतिके शिक्षक और धर्मनीतिके शिक्षकमे बहुत अन्तर है। बिल्लोरके टुकडेके समान व्यवहार-शिक्षक है, और अमूल्य कौस्तुभ-मणिके समान आत्मधर्म-शिक्षक है।

पुत्र—सिरछत्र ! आपका कहना योग्य है। धर्मके शिक्षककी सम्पूर्ण आवश्यकता है। आपने बारबार ससारके अनन्त दु खोंके सम्ब-

पड़ती है, फिर भी उससे अपना क्या मंगल होता हैं ? अधिकारसें परतन्त्रता या अमलमद आता है और इससे अत्याचार, अनीति, रिश्वत और अन्याय करने पड़ते है, अथवा होते हैं। फिर कहो इसमें-से किसकी महत्ता होती है ? केवल पापजन्य कर्मकी। पापी कर्मके द्वारा आत्माकी नीच गति होती है, जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नहीं, परन्तु लघुता हैं।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार और समतामें निहित है। लक्ष्मी इत्यादि तो कर्ममहत्ता है। ऐसा होनेपर भी चतुर-पुरुप लक्ष्मीसे दान देते हैं, उत्तम विद्याशालाये स्थापित करके परदुःखभंजन वनते है। केवल एक अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही वृत्तिको रोककर परस्त्रीकी ओर पुत्री भावसे देखते हैं। कुटुम्वके द्वारा अमुक समुदायका हित करते हैं। पुत्र होनेसे उसको संसारका भार देकर स्वयं धर्म-मार्गमें प्रवेश करते हैं। अधिकारके द्वारा विच-क्षणतासे आचरण कर राजा और प्रजा दोनोंका हित करके धर्म-नीतिका प्रकाश करते है। ऐसा करनेसे कुछ—एक सच्ची महत्ताएँ प्राप्त होती है; तथापि ये महत्ताएँ निश्चित नही है। मरणका भय शिरपर खड़ा है। धारणाएँ धरी रह जाती है। वनाई गई योजना या विवेक कदाचित् हृदयमें-से निकल भी जाय ऐसी संसारमोहिनी है; इससे हमें यह निःसंशय समझना चाहिये कि सत्यवचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य और समता जैसी आत्ममहत्ता अन्य किसी भी स्थान पर नही है। शुद्ध पंच महाव्रनधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की है वह ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्तीने लक्ष्मी, कुटुम्ब, पुत्र अथवा अधिकारसे भी नहीं प्राप्त की, ऐसी मेरी मान्यता है।

शिक्षापाठ १७ : बाहुबल

वाहुवल अर्थात् "अपनी भुजाका वल"—यह अर्थ यहाँ नहीं करना चाहिये; क्योंकि वाहुवल नामके महापुरुषका यह एक छोटा किन्तु अद्भुत चरित्र है।

त्यागी हो, समभावी हो और वीतरागतासे सत्योपदेशक हो। सक्षेपमे उन्हे काष्ठस्वरूप सद्‌गुरु जानना। पुत्र! गुरुके आचार और ज्ञानके सम्बन्धमे आगममे बहुत विवेकपूर्वक वर्णन किया है। ज्यो-ज्यो तू आगे विचार करना सीखता जायेगा त्यो-त्यो बादमे मै तुझे विशेष तत्त्वोका उपदेश करता जाऊँगा।

पुत्र—पिताजी, आपने मुझे सक्षेपमे बहुत उपयोगी और कल्याण-मय उपदेश कहा है। मैं निरन्तर इसका मनन करता रहूँगा।

शिक्षापाठ १२ उत्तम गृहस्थ

ससारमे भी जो उत्तम श्रावक गृहस्थाश्रममे आत्म-कल्याणका साधन करते हैं, उनका गृहस्थाश्रम भी प्रशसनीय है।

ये उत्तम पुरुष सामायिक, क्षमापना, चोविहार-प्रत्याख्यान इत्यादि यम नियमोका सेवन करते हैं, पर-पत्नीकी ओर माँ बहनकी दृष्टि रखते हैं।

सत्पात्रको यथाशक्ति दान देते हैं।

शान्त, मधुर और कोमल भाषा बोलते हैं।

सत् शास्त्रोका मनन करते है।

यथासभव उपजीविकामे भी माया-कपट इत्यादि नही करते।

स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मुनि और गुरु इन सबका यथायोग्य सम्मान करते हैं।

माँ, बापको धर्मका उपदेश देते हैं।

यत्नासे घरकी स्वच्छता, भोजन पकाना, शयन इत्यादि कराते हैं।

स्वय विचक्षणतासे आचरण करते हुए स्त्री, पुत्रको विनयी और धर्मात्मा बनाते है।

सम्पूर्ण कुटुम्बमे ऐक्यकी वृद्धि करते है।

आये हुए अतिथिका यथायोग्य सम्मान करते है।

बहुत सहन करना पड़ा।" उनके इन वचनोंसे बाहुबली विचारमें पड़े। विचारते-विचारते उन्हें भान हुआ कि "सत्य है! अभी मै मान-रूपी मदोन्मत्त हाथी परसे कहाँ उतरा हूँ? अब इसपरसे उतरना ही मंगलकारक है"। ऐसा विचार कर उन्होंने ज्यों ही वन्दन करनेके लिए पैर उठाया, कि उन्हें अनुपम दिव्य कैवल्य-कमलाकी प्राप्ति हो गयी।

पाठको! देखो, मान कैसी दुरित वस्तु है!

शिक्षापाठ १८ : चार गति

जीव[1] सातावेदनीय और असाता वेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मका फल भोगनेके लिए इस संसार वनरूप चार गतियोंमें भटका करता है। अतः इन चार गतियोंको अवश्य जानना चाहिए।

१. नरकगति—महा आरंभ, मदिरापान, मांस भक्षण इत्यादि तीव्र हिंसाके करनेवाले जीव भयंकर नरकमें पड़ते है। वहाँ लेशमात्र भी साता, विश्राम, अथवा सुख नहीं है। वहाँ महा अंधकार व्याप्त है। अंग-छेदन सहन करना पड़ता है, अग्निमें जलना पड़ता है, और छुरेकी धार जैसा जल पीना पड़ता है। वहाँ अनन्त दुःखके कारण प्राणियोंको संक्लेश, असाता और विलविलाहट सहन करने पड़ते हैं। ऐसे दुःखोंको केवलज्ञानी भी नहीं कह सकते। अहो हो!! इन दुःखों को अनन्तबार इस आत्माने भोगा है।

२. तिर्यंचगति—छल, झूठ, प्रपंच इत्यादिके कारण जीव सिंह, बाघ, हाथी, मृग, गाय, भैंस, बैल आदि तिर्यंच शरीर धारण करता है। इस तिर्यंचगतिमें भूख, प्यास, ताप, वध, बन्धन, ताड़न, भार-वहन इत्यादि दुःखोंको सहन करता है।

३. मनुष्यगति—खाद्य, अखाद्यके सम्बन्धमें विवेक रहित होता

---

१. द्वि० आ० पाठा०—"जीव संसार वनमे सातावेदनीय और असाता-वेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मोका फल भोगनेके लिए इन चार गतियोमे भ्रमण करता रहता है।"

अठारह दूषणोंमें-से एक भी दूषण हो तो भी वे अपूज्य हैं। एक समर्थ विद्वान्ने भी कहा है कि—"मैं परमेश्वर हूँ" इस प्रकार मिथ्या रीतिसे मनवानेवाले पुरुष स्वयं अपनेको ठगते हैं, क्योंकि बगलमें स्त्री होनेसे वे विषयी ठहरते हैं, शस्त्र धारण किये होनेसे वे द्वेषी ठहरते हैं, जपमाला धारण करनेसे यह सूचित होता है कि उनका मन व्यग्र है। जो यह कहते हैं कि—'मेरी शरणमें आ, मैं सब पापोंको हर लूँगा' वे अभिमानी और नास्तिक ठहरते हैं। ऐसा है तब फिर वे दूसरेको कैसे पार कर सकते हैं? तथा बहुतसे अवतार लेनेके रूपमें परमेश्वर कहलाते हैं, इससे सिद्ध होता है कि—"उन्हें[1] किसी कर्मका प्रयोजन अभी शेष है।"

जिज्ञासु—भाई! तब फिर बतलाइये कि पूज्य कौन हैं, और किसकी भक्ति करनी चाहिये, जिससे आत्मा स्व-शक्तिका प्रकाश कर सके?

सत्य—शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप[2] अनन्त सिद्धकी भक्तिसे तथा सर्वदूषणरहित कर्ममलविहीन, मुक्त, वीतरागी, सकल भयरहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान्की भक्तिसे आत्मशक्ति प्रकट होती है।

जिज्ञासु—इनकी भक्ति करनेसे वे हमें मुक्ति देते हैं क्या ऐसा मानना ठीक है?

सत्य—जिज्ञासु भाई! वे अनन्तज्ञानी भगवान् तो वीतरागी और निर्विकार हैं। उन्हें स्तुति-निन्दाका हमें कोई फल देनेका प्रयोजन नहीं है। अपना आत्मा, जो कर्मदलसे घिरा हुआ है, तथा अज्ञानी और मोहान्ध हो रहा है, उसे दूर करनेके लिए अनुपम पुरु-

---

१ द्वि० आ० पाठा०—"वहाँ उन्हें किन्हीं कर्मोंका भोगना शेष है—यह सिद्ध होता है।"

२ द्वि० आ० पाठा०—'सिद्ध भगवान्की'।

पड़ जाती हैं, केश धवल होकर खिरने लगते है, चलनेकी शक्ति नहीं रहती, हाथमें लकड़ी लेकर लड़खड़ाते हुए चलना पड़ता है, अथवा जीवन पर्यन्त खाटपर ही पड़ा रहना पडता है, श्वास, खाँसी इत्यादि रोग आकर घेर लेते हैं और थोड़े कालमें काल आकर कवलित कर जाता है। इस देहमेंसे जीव चल निकलता है। कायाका होना न होनेके समान हो जाता है। मरण समयमें भी कितनी अधिक वेदना सहनी पड़ती है? चारों गतियोंमें श्रेष्ठ मनुष्य देहमें भी कितने अधिक दुःख भरे हुए है! ऐसा होते हुए भी ऊपर कहे अनुसार काल अनुक्रमसे आता हो यह वात भी नहीं है। वह चाहे जब आकर ले जाता है। इसीलिये विचक्षण पुरुष प्रमाद रहित होकर आत्म-कल्याणकी आराधना करते है।

शिक्षापाठ १९ : संसारकी चार उपमाएँ—भाग १

१. संसारको महातत्त्वज्ञानी पुरुष एक समुद्रकी उपमा भी देते हैं। संसाररूपी समुद्र अनन्त और अपार है। अहो प्राणियो! इससे पार होनेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!! इस प्रकार उनके अनेक स्थानोंपर वचन है। संसारको समुद्रकी उपमा उपयुक्त भी है। समुद्रमें जैसे लहरें उठा करती हैं, वैसे ही संसारमें विषयरूपी अनेक लहरें उठती है। जैसे समुद्र-जल ऊपरसे सपाट दिखाई देता है, वैसे ही संसार भी सरल दिखाई देता है। जैसे समुद्र कहीं बहुत गहरा है और कहीं भँवरोंमें डाल देता है, वैसे ही संसार काम-विषय और प्रपंच आदिमें बहुत गहरा है, और वह मोहरूपी भँवरोंमें डाल देता है। जैसे थोड़ा जल रहनेपर भी समुद्रमें खड़े होनेसे कीचड़में धँस जाते है, वैसे ही संसार-के लेशभर प्रसंगमें भी वह तृष्णारूपी कीचड़में फँसा देता है। जैसे समुद्र नानाप्रकारकी चट्टानों और तूफानोंसे नाव अथवा जहाजको हानि पहुँचाता है, वैसे ही संसार स्त्रीरूपी चट्टानों और कामरूपी तूफानोंसे आत्माको हानि पहुँचाता है। जैसे समुद्र अगाध जलसे

इत्यादिका उदय होगा।

जिज्ञासु—परन्तु 'लोगस्स' मे तो चौबीस जिनेश्वरके नामोका सूचन किया है, इसका क्या हेतु है ? यह मुझे समझाइए।

सत्य—इसका हेतु यही है कि इस कालमे इस क्षेत्रमे जो चौबीस जिनेश्वर हुए हैं उनके नाम और चरित्रोका स्मरण करनेसे शुद्ध तत्त्वका लाभ होता है। वीतरागीका चरित्र वैराग्यका उपदेश देता है। अनन्त चौबीसीके अनन्त नाम सिद्धस्वरूपमे समग्ररूपसे आ जाते हैं। वर्तमानकालके चौबीस तीर्थंकरोके नाम इस कालमे लेनेसे कालकी स्थितिका बहुत सूक्ष्म ज्ञान भी स्मृतिमे आ जाता है। जैसे इनके नाम इस कालमे लिये जाते हैं वैसे ही चौबीसी-चौबीसीके नाम, काल और चौबीसी बदलने पर लिये जाते रहते हैं। इसलिये अमुक ही नाम लेना ऐसा कुछ निश्चित नही है, परन्तु उनके गुण और पुरुपार्थ-स्मृतिके लिए वर्तमान चौबीसीकी स्मृति करना ऐसा तत्त्व निहित है। उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नाम निक्षेपसे जाना जाता है। इसके द्वारा अपने आत्माको प्रकाश मिलता है। जैसे सर्प बासुरीके स्वरसे जागृत होता है वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुनते ही मोह निद्रासे जागृत होता है।

जिज्ञासु—आपने जिनेश्वरकी भक्तिके सम्बन्धमे मुझे बहुत उत्तम कारण बताया। जिनेश्वरकी भक्ति कुछ फलदायक नही ऐसी आधुनिक शिक्षाके कारण मेरी जो आस्था हो गई थी, वह नाश हो गई है। जिनेश्वर भगवान्‌की भक्ति अवश्य करनी चाहिये, यह मैं मान्य करता हूँ।

सत्य—जिनेश्वर भगवान्‌की भक्तिमे अनुपम लाभ है। इसके महान् कारण हैं, "उनके उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। उनके पुरुपार्थका स्मरण होनेसे कल्याण होता है। इत्यादि मात्र सामान्य कारण मैंने यथाबुद्धि कहे हैं, वे अन्य भक्त-

७. राग, द्वेप, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सभी आस्रव है, ऐसा चिन्तवन करना सो सातवीं 'आस्रव-भावना' है।

८. जीव ज्ञान-ध्यानमें प्रवृत्त होकर नये कर्मोको नहीं वाँधता, ऐसा चिन्तवन करना सो आठवी 'संवर भावना' है।

९. ज्ञान सहित क्रियाका करना निर्जराका कारण है, ऐसा चिन्तवन करना सो नौवी 'निर्जरा भावना' है।

१०. लोकस्वरूपका उत्पत्ति, स्थिति, विनाशस्वरूप चिन्तवन करना सो दशवी 'लोकस्वरूप भावना' है।

११. संसारमें परिभ्रमण करते हुए जीवको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है, यदि सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया तो चारित्र—सर्व-विरति-परिणामरूप धर्मका प्राप्त होना दुर्लभ है, ऐसा चिन्तवन करना सो ग्यारहवीं 'बोधदुर्लभ भावना' है।

१२. धर्मोपदेशक एवं शुद्ध शास्त्र-बोधक गुरु तथा इस प्रकारका श्रवण प्राप्त होना दुर्लभ है, ऐसा चिन्तवन करना सो वारहवीं 'धर्मदुर्लभ भावना' है।

इन बारह भावनाओंको मननपूर्वक निरन्तर विचार करनेसे सत्पुरुष उत्तमपदको प्राप्त हुए है, प्राप्त होते है और प्राप्त होंगे।

शिक्षापाठ २२ : कामदेव श्रावक

भगवान् महावीरके समयमें बारह व्रतोंको विमलभावसे धारण करनेवाला, विवेकी और निर्ग्रन्थ-वचनानुरक्त कामदेव नामक एक श्रावक उनका शिष्य था। एक समय इन्द्रने सुधर्मा सभामें कामदेवकी धर्म-अचलताकी प्रशंसा की। उस समय वहाँ एक तुच्छ बुद्धिमान[1] देव वैठा हुआ था। वह बोला—"यह सब ठीक है; जब तक नारी

१. उसने ऐसी सुदृढताके प्रति अपना अविश्वास व्यक्त किया, और कहा कि—जव तक परीपह नही आ पड़ते तव तक सभी सहनशील और धर्मदृढ दिखाई देते हैं।

अन्तको प्राप्त करो ॥२॥

इससे सदा समभावी परिणामोकी प्राप्ति होगी, अत्यन्त जड और मद अधोगतिमे ले जानेवाले जन्मका नाश होगा, तथा यह शुभ मगलमय है, इसकी पूर्ण रूपसे इच्छा करो, और भगवान्की भक्ति करके भवके अन्तको प्राप्त करो ॥३॥

शुभ भावोंके द्वारा मनको शुद्ध करो, नवकार महामन्त्रका स्मरण करो, इसके समान और दूसरी कोई वस्तु नही, इसलिये भगवान्की भक्ति करके भवके अन्तको प्राप्त करो ॥ ४ ॥

इसलिए सम्पूर्णरूपसे रागकथाका क्षय करो और यथार्थरूपसे शुभ तत्त्वोको धारण करो। राजचन्द्र कहते हैं कि भगवद्-भक्तिसे अनन्त प्रपचको दहन करो, और भगवान्की भक्तिसे भवके अन्तको प्राप्त करो॥ ५ ॥

शिक्षापाठ १६ : वास्तविक महत्ता

कई लोग, लक्ष्मीसे महत्ता मिलती है ऐसा मानते हैं, कितने ही महान् कुटुम्बसे महत्ता मानते है, कितने ही पुत्रसे महत्ता मानते है, तथा कई अधिकारसे महत्ता मानते हैं। परन्तु यह उनका मानना विवेकसे विचार करनेपर मिथ्या सिद्ध होता है। ये लोग जिसमे महत्ता समझते हैं उसमे महत्ता नही, परन्तु लघुता है। लक्ष्मीसे ससारमे खान-पान, मान, अनुचरोपर आज्ञा और वैभव ये सब मिलते हैं। और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानते होगे, परन्तु इतनेसे इसकी महत्ता नहीं माननी चाहिये। लक्ष्मी अनेक पापोसे पैदा होती है। यह आने पर अभिमान, बेहोशी, और मूढता पैदा करती है। कुटुम्ब समुदायकी महत्ता पानेके लिए उसका पालन-पोषण करना पडता है। उसमे पाप और दुख सहन करने पडते हैं। हमे उपाधिसे पाप करके उसका उदर भरना पडता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नही रहता। इसके लिये भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहनी

वने वैसे एकाग्रचित्त होकर दृढ़तासे निर्दोपता पूर्वक करना। चल-विचलभावसे कायोत्सर्ग अत्यन्त दोपयुक्त होता है। [1]एक पाईके लिए भी धर्म-शास्त्रको खो देनेवाले धर्ममें दृढ़ता कहाँसे रख सकें? और यदि रखें तो कैसी रखें; यह विचार करते हुए खेद होता है।

शिक्षापाठ २३ : सत्य

सामान्य कथनमें भी कहा जाता है कि सत्य इस[2] सृष्टिका आधार है, अथवा सत्यके आधारपर यह[3] सृष्टि टिकी हुई है। इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सव सत्यके द्वारा चल रहे हैं और यदि ये चारों न हों तो जगत्‌का रूप कितना भयंकर हो? इसलिये सत्य यह सृष्टिका आधार है, यह कहना कोई अतिशयोक्ति जैसा नहीं है अथवा नहीं मानने जैसी वात भी नहीं है।

वसुराजाका एक शव्दका असत्य वोलना कितना दुःखदायक हुआ था, [4]यह वात तत्त्व विचार करनेके लिए मै यहाँ कहता हूँ। वसुराजा, नारद और पर्वत—ये तीनों एक ही गुरुके पास विद्या सीखे थे। पर्वत अध्यापकका पुत्र था; अध्यापकका मरण हो गया। इसलिये पर्वत अपनी मॉके साथ वसुराजाके दरवारमें आकर रहने लगा। एक रातको पर्वतकी मॉ पासमें वैठी थी तथा पर्वत और नारद शास्त्राभ्यास कर रहे थे। उस समय पर्वतने 'अजैर्यष्टव्यं' ऐसा एक वाक्य

१. पाई जितने नये पैसेके वरावर द्रव्यलाभके लिये धर्मशास्त्रको डुवानेवालेकी धर्ममे दृढ़ता कहाँसे रह सकती है? और यदि रहे भी तो कैसी?

२. 'जगत्‌का आधार।'

३. जगत रहा है।

४. द्वि० आ० पाठा०—'यह प्रसंग विचार करनेके लिए यहाँ कहेंगे।'

सर्वसंगका परित्याग करके भगवान् ऋषभदेवजी भरत और बाहु-बल नामके अपने दो पुत्रोंको राज्य सौंपकर विहार करते थे। उस समय भरतेश्वर चक्रवर्ती हुए। आयुधशालामे चक्रकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् प्रत्येक राज्यपर उन्होने अपनी महत्ता स्थापित की, और छह खंडकी प्रभुता प्राप्त की। मात्र बाहुबलने ही उनकी इस प्रभुता-को स्वीकार नही किया। इससे परिणाममे बाहुबल और भरतेश्वरमे युद्ध हुआ। बहुत समय तक भरतेश्वर और बाहुबल एक भी नही हटा, तब क्रोधावेशमे आकर भरतेश्वरने बाहुबल पर चक्र छोडा। एक वीर्यसे उत्पन्न सहोदर भाईपर चक्र प्रभाव नही कर सकता, ऐसा नियम होनेसे वह चक्र फिरकर भरतेश्वरके हाथमे वापिस आ गया। भरतके चक्र छोडनेसे बाहुबलको बहुत क्रोध आया। उन्होने महाबलवत्तर मुष्टि उठायी। तत्काल ही वहाँ उनकी भावनाका स्व-रूप बदला। उन्होंने विचार किया कि "मै बहुत ही निन्दनीय कार्य कर रहा हूँ। इसका परिणाम कितना दु खदायक है! भले ही भरते-श्वर राज्य भोगे। व्यर्थ ही परस्परका नाश क्यो करना? यह मुष्टि प्रहार योग्य नही है, परन्तु उठाई है तो अब पीछे हटाना भी योग्य नही"। यह विचारकर उन्होने पचमुष्टि केशलोच किया, और वहाँसे मुनित्वभावसे चल निकले। उन्होने जहाँ भगवान् आदीश्वर अठानवें दीक्षित पुत्रो सहित और आर्य-आर्या सहित विहार करते थे, वहाँ जानेकी इच्छा की। परन्तु मनमे मान आया कि वहाँ मैं जाऊँगा तो अपनेसे छोटे अठानवें भाइयोंको वन्दन करना पडेगा। इसलिये वहाँ तो जाना योग्य नही। पश्चात् वनमे वे एकाग्रध्यानमे लीन रहे। धीरे-धीरे बारह मास बीत गये। महातपसे बाहुबलीकी काया अस्थि-पंजरवशेष रह गई। वे सूखे वृक्ष जैसे दीखने लगे, परन्तु जब तक मानका अकुर उनके अन्त करणमे हटा नही था, तबतक उन्होने सिद्धि नही पायी, ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी बहिनोंने आकर उनको उपदेश दिया—"आर्य, अब मदोन्मत्त हाथी परसे उतरो, इससे तो

क्या अर्थ करते हो ? नारदने कहा कि क्या आपको यह स्मरण नहीं है कि अजका अर्थ तीन वर्षका 'व्रीहि' होता है ? तब वसुराजाने कहा कि 'अजका' अर्थ बकरा है 'व्रीहि' नहीं। उसी समय देवताने उसे सिंहासनसे उछालकर नीचे पटक दिया, वसु मृत्युको प्राप्त हुआ। (नरकमें गया)।

इसपरसे यह शिक्षा मिलती है कि हम सबको[1] सत्य तथा राजाको सत्य और न्याय—दोनों ग्रहण करना योग्य है।

भगवान्‌ने जो पाँच महाव्रत कहे हैं उनमेंसे प्रथम महाव्रतकी रक्षाके लिए शेष चार व्रत वाड़रूप हैं, और उनमें भी पहली वाड़ सत्य महाव्रत है। इस सत्यके अनेक भेदोंको सिद्धान्तसे श्रवण करना आवश्यक है।

शिक्षापाठ २४ : सत्संग

सत्संग सभी सुखोंका मूल है। 'सत्संग[2] मिला' कि उसके प्रभावसे वांछित सिद्धि हो ही जाती है। यथेच्छ पवित्र होनेके लिए सत्संग श्रेष्ठ साधन है; सत्संगकी एक घड़ी जितना लाभ देती है उतना कुसंगके करोड़ों वर्ष भी लाभ नहीं देकर अधोगतिमय महापाप कराते है और आत्माको मलिन करते हैं। सत्संगका सामान्य अर्थ इतना कि, उत्तमका सहवास। जहाँ अच्छी हवा नही आती वहाँ रोगकी वृद्धि होती है, इसी प्रकार जहाँ सत्संग नहीं होता वहाँ आत्म-रोग बढ़ता है। जैसे हम दुर्गन्धसे घबड़ाकर नाकमें कपड़ा लगा लेते है, वैसे ही कुसंगका सहवास बन्द करना आवश्यक है। संसार भी एक प्रकारका संग है और वह अनन्त कुसंगरूप

---

१. द्वि० आ० पाठा०—सामान्य मनुष्योंको सत्य, तथा राजाको न्यायमें निष्पक्षता एवं सत्य दोनों ग्रहण करना उचित है।

२. 'सत्संगका लाभ मिला'

है, लज्जाहीन होकर माता और पुत्रीके साथ काम-गमन करनेमे जिमे पाप और अपापका भान नही होता, जो निरन्तर मास भक्षण, चोरी, परस्त्री गमन वगैरह महापातक किया करता है, यह तो मानो अनार्य देशका अनार्य मनुष्य है। आर्य देशमे भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि मतिहीन, दरिद्री, अज्ञान और रोगसे पीडित मनुष्य है और वे मान, अपमान इत्यादि अनेक प्रकारके दुख भोग रहे हैं।

४ देवगति—परस्पर वैर, ईर्ष्या, क्लेश, शोक, मत्सर, काम, मद, क्षुधा आदिसे देव लोग भी आयु व्यतीत कर रहे हैं। यह देवगति है।

इस प्रकार चारो गतियोका स्वरूप सामान्यरूपमे कहा। इन चारो गतियोमे मनुष्य गति श्रेष्ठ और दुर्लभ है। आत्माका परम-हित—मोक्ष इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमे भी बहुतसे दु ख और आत्मकल्याण करनेमे अन्तराय हैं।

एक तरुण सुकुमारको रोम-रोममे अत्यन्त तप्त लाल सूए चुभाने-से जो असह्य वेदना होती है, उसमे भी आठ गुनी वेदना जीव गर्भ-स्थानमे रहते हुए भोगता है। यह जीव लगभग नौ महीने मल, मूत्र, खून, पीप आदिमे दिन रात मूर्च्छागत स्थितिमे वेदना भोग-भोगकर जन्म लेता है। गर्भस्थानकी वेदनासे अनन्त गुनी वेदना जन्मके समय उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् बाल्यावस्था प्राप्त होती है। मल, मूत्र, धूल और नग्नावस्थामे बेसमझीमे रो-भटककर बाल्यावस्था पूर्ण होती है। इसके बाद युवावस्था आती है। उस समय धन उपार्जन करनेके लिए नाना प्रकारके पापोमे पडना पडता है। जहाँसे उत्पन्न हुआ है वहाँ अर्थात् विषय-विकारमे वृत्ति जाती है। उन्माद, आलस्य, अभिमान, निंद्यदृष्टि, सयोग-वियोग आदिकी घटमालमे युवावस्था चली जाती है। फिर वृद्धावस्था आती है। शरीर काँपने लगता है, मुखसे लार बहने लगती है, त्वचापर सिकु-डन पड जाती हैं, सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ बिलकुल मद

किया कि न जाने इसमेंसे कितने वर्षमें छुटकारा मिलेगा, इसलिये अपनी देवांगनासे तो मिल आऊँ। ऐसा विचारकर वह चला गया। इसी प्रकार दूसरा देवता गया, फिर तीसरा गया। ऐसा करते-करते हजारके हजार देवता चले गये। तब चर्मरत्न डूब गया; अश्व, गज और सर्वसैन्यसहित सुभूम चक्रवर्ती भी डूब गया। और वह पाप ही पापभावनामें मरकर अनन्त दुःखसे भरी हुई सातवीं तमतमप्रभा-नरक पृथ्वीमें जाकर पड़ा। देखो ! छह खण्डका आधिपत्य तो भोगना एक ओर रहा, परन्तु अकस्मात् और भयंकर रीतिसे, परिग्रहकी प्रीतिमें इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तब फिर दूसरेके लिए तो कहना ही क्या ? परिग्रह यह पापका मूल है, पापका पिता है, और अन्य एकादश व्रतोंमें महादोष दे ऐसा इसका स्वभाव है। इसलिये आत्म-हितैषीको जैसे बने वैसे इसका त्याग कर मर्यादापूर्वक आचरण करना योग्य है।

शिक्षापाठ २६ : तत्त्वका समझना

ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते है जिन्हें शास्त्रोंके शास्त्र कण्ठस्थ हों; किन्तु जिन्होंने थोड़े वचनोंपर प्रौढ़ और विवेकपूर्वक विचार करके शास्त्र जितना ज्ञान हृदयंगम किया हो ऐसे पुरुषोंका मिलना दुर्लभ है। तत्त्व तक पहुँच जाना कोई छोटी बात नही है; किन्तु कूदकर समुद्र उलांघ जानेके समान है।

अर्थ अर्थात् लक्ष्मी, अर्थ अर्थात् तत्त्व और अर्थ अर्थात् शब्द होता है। इस प्रकार अर्थ शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु यहाँ पर 'अर्थ' अर्थात् 'तत्त्व' के विषयपर कथन करना है। जो लोग निर्ग्रन्थ-प्रवचनमें आये हुए पवित्र वचनोंको कण्ठस्थ करते है वे अपने उत्साहके बलसे सत्फलका उपार्जन करते है; परन्तु जो उसका मर्म पा लिया हो तो इससे सुख, आनंद, विवेक और अन्तमे महान् अद्-भुत फलको प्राप्त करते हैं। अपढ़ पुरुष जितना सुन्दर अक्षर और

ठायंमि, ऐसे क्यों वोलते हो ? खेतशीने कहा कि मैं गरीव हूँ इसलिये मेरा नाम आया तो वहाँ आप लोग तुरन्त ही तकरार कर बैठे। परन्तु रायशी और देवशीके लिये तो किसी दिन कोई वोलता भी नहीं। ये दोनों क्यों 'रायशी पडिक्कमणुं ठायंमि' और 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसा कहते हैं ? तो फिर मैं 'खेतशी पडिक्कमणु ठायंमि' ऐसे क्यों न कहूँ ? इसकी भद्रताने तो सवको विनोद उत्पन्न किया। वादमें प्रतिक्रमणका कारण सहित अर्थ समझानेसे खेतशी अपने मुखसे पाठ किये हुए प्रतिक्रमणसे शरमाया।

यह तो एक सामान्य वात है, परन्तु अर्थकी खूवी न्यारी है। तत्त्वज्ञ-लोग उसपर वहुत विचार कर सकते हैं। वाकी तो जैसे गुड़ मीठा ही लगता है, वैसे ही निर्ग्रन्थ वचनामृत भी श्रेष्ठ फलको ही देते है। अहो ! परन्तु मर्म पानेकी वातकी तो वलिहारी ही है !

शिक्षापाठ २७ : यत्ना

जैसे विवेक धर्मका मूलतत्त्व है; वैसे ही यत्ना धर्मका उपतत्त्व है। विवेकसे धर्मतत्त्वका ग्रहण किया जाता है, तथा यत्नासे वह शुद्ध रक्खा जा सकता है, और उसके अनुसार आचरण किया जा सकता हे। पांच समितिरूप यत्ना तो वहुत श्रेष्ठ है, परन्तु गृहस्थाश्रमीसे वह सर्वथारूपसे नहीं पल सकती, तो भी जितने अंशोंमें वह पाली जा सकती है; उतने अंशोंमें भी वे असावधानीके कारण, जिनेश्वर भगवान् द्वारा उपदेशित स्थूल और सूक्ष्मदयाके प्रति जहाँ असावधानी है, वहाँपर वहुत दोषपूर्ण पाली जा सकती है। यह यत्नाकी न्यूनताके कारण है। जल्दी और वेगभरी चाल, पानी छानकर उसकी जीवानी रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठ आदि ईंधनका विना झाड़े-देखे उपयोग, अनाजमें रहनेवाले जन्तुओंकी अपूर्णशोध, विना मंजे-अस्वच्छ छोड़ दिए गए पात्र, अस्वच्छ रखे हुए कमरे, आँगनमें

शीतल दिखाई देनेपर भी उसमे बडवानल नामकी अग्निका वास है। वैसे ही ससारमे मायारूपी अग्नि जलती ही रहती है। जैसे समुद्र चौमासेमें अधिक जल पाकर गहरा उतरता है, वैसे ही ससार पापरूपी जल पाकर गहरा होता है, अर्थात् वह मजबूत जड जमाता जाता है।

२ ससारको दूसरी उपमा अग्निकी लागू होती है। जैसे अग्निसे महातापकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही ससारसे त्रिविध तापकी उत्पत्ति होती है। जैसे अग्निसे जला हुआ जीव महाबिलबिलाहट करता है, वैसे ही ससारसे जला हुआ जीव अनन्त दुखरूप नरकमे असह्य बिलबिलाहट करता है। जैसे अग्नि सब वस्तुओको भक्षण कर जाती है, वैसे ही अपने मुखमे पडे हुएको ससार भक्षण कर जाता है। अग्निमे ज्यो-ज्यो घी और ईंधन होमे जाते है, त्यो-त्यो वह वृद्धि पाती है[1], उसी प्रकार ससारमे तीव्र मोहिनीरूप घी और विषयरूप ईंधन होमा जानेमे वह वृद्धिको प्राप्त होता है।

३ ससारको तीसरी उपमा अधकारकी लागू होती है। जैसे अधकारमे रस्सी सर्पका भान कराती है, वैसे ही ससार सत्यको असत्यरूप बताता है। जैसे अधकारमे प्राणी इधर-उधर भटक कर विपत्ति भोगते है, वैसे ही ससारमे बेसुध होकर अनन्त आत्मा चतुर्गतिमे इधर-उधर भटकते है। जैसे अधकारमे कॉच और हीरेका ज्ञान नही होता, वैसे ही ससाररूपी अधकारमे विवेक और अविवेकका ज्ञान नही होता। जैसे अधकारमे प्राणी आँखें होने पर भी अन्धे बन जाते है, वैसे ही शक्तिके होने पर भी प्राणी ससारमे मोहान्ध बन जाते है। जैसे अन्धकारमे उल्लू आदिका उपद्रव बढ

---

१ द्वि० आ० पाठा०—उसी प्रकार ससाररूपी अग्निमें तीव्र मोहिनीरूपी घी और विषयरूपी ईंधनके होमनेसे वह वृद्धिको प्राप्त होती है।

पुराण आदि मतोंमें भी सामान्य आचारके लिए रात्रिभोजनका त्याग वताया गया है, फिर भी उनमें परम्पराकी रूढ़िको लेकर रात्रि भोजन प्रविष्ट हो गया है, किन्तु यह निपिद्ध तो है ही।

शरीरके भीतर दो प्रकारके कमल विद्यमान हैं, वे सूर्यास्तके साथ ही संकुचित हो जाते हैं इसलिए रात्रि भोजनमें सूक्ष्म जीवोंका भक्षण होनेरूप अहित होता है, जो कि महारोगका कारण है, ऐसा अनेक स्थलोंपर आयुर्वेदका भी मत है।

सत्पुरुप तो दो घड़ी दिन रहनेपर व्यारू कर लेते है और दो घड़ी दिन चढ़नेसे पहले किसी भी प्रकारका आहार नहीं करते। रात्रिभोजनके सम्वन्धमें विशेष विचार मुनि-समागमसे अथवा शास्त्रोंसे जान लेना चाहिए। इस सम्वन्धमें वहुत सूक्ष्म भेदोंका जानना आवश्यक है। चारों प्रकारके आहार रात्रिमें त्याग करनेसे महान् फल होता है, ऐसा जिन-वचन है।

शिक्षापाठ २९ : सर्वजीवोंकी रक्षा—भाग-१

दयाके समान दूसरा एक भी धर्म नहीं है। दया ही धर्मका स्वरूप है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नही। इस पृथिवी तलपर ऐसे अनेक अनर्थकारक धर्म-मत विद्यमान हैं कि जो जीवके मारनेमें किंचित् मात्र भी पाप नहीं होता, वहुत तो मनुष्यदेहकी रक्षा करो, ऐसा कहते है; इस प्रकार ऐसे धर्म-मत वाले लोग धर्मोन्मादी और मदान्ध है, और वे दयाका लेशमात्र भी स्वरूप नहीं जानते। यदि वे लोग अपने हृदय पटको प्रकाशमें रखकर विचार करे तो उन्हे ज्ञान होगा कि किसी सूक्ष्मसे सूक्ष्म जन्तुका वध करनेमें भी महापाप होता है। जैसा मुझे अपना आत्मा प्रिय है वैसा ही दूसरोंको भी अपना आत्मा प्रिय है। मै अपने थोड़ेसे व्यसन अथवा लाभके लिए असंख्यात जीवोंका बेधड़क वध करता हूँ, यह मुझे कितने भयंकर अनंत दुःखका कारण होगा ? उनमें बुद्धिका बीज भी विद्यमान नही होनेसे

न मिले तब तक सब ब्रह्मचारी होते हैं और जब तब परिषह न आ पड़े तब तक सभी सहनशील, और धर्म दृढ़। मैं अपनी यह बात उस कामदेवको चलायमान करके सत्य सिद्ध कर दिखाऊँगा।"

उस समय धर्मदृढ कामदेव कायोत्सर्गमें लीन था। देवताने विक्रियासे हाथीका रूप धारण किया और फिर कामदेवको खूब खूँदा, फिर भी वह अचल बना रहा। फिर उसने मूसल जैसा अंग बनाकर काले वर्णका सर्प बनकर भयंकर फुंकार किये तब भी वह कामदेव कायोत्सर्गसे लेशमात्र चलित नहीं हुआ। तत्पश्चात् अट्टहास करते हुए राक्षसका शरीर धारण करके अनेक प्रकारके उपसर्ग किये, तथापि कामदेव कायोत्सर्गसे किंचित्मात्रभी चलायमान नहीं हुए। फिर उसने सिंहादिके अनेक भयंकर रूप धारण किये, तथापि कामदेवने कायोत्सर्गमें लेशमात्र भी हीनता नहीं आने दी।

इस प्रकार वह देव सारी रात (चारों प्रहर) उपद्रव करता रहा, किन्तु वह अपनी धारणामें सफल नहीं हुआ। तब उसने अपने अवधिज्ञानके उपयोग-बलसे देखा तो कामदेव मेरुशिखरकी भाँति अडोल और अकम्प खड़ा था। यों उसने कामदेवकी अद्भुत निश्चलता जानकर उसे विनयभावसे प्रणाम किया, और अपने दोषोंकी क्षमायाचना करके वह देव स्वस्थानको चला गया।

अब यह बात तो बिना कहे भी समझमें आयी होगी कि 'कामदेव श्रावककी धर्मदृढ़ता हमें क्या बोध देती है?' इसमेंसे हमें यह तत्त्वविचार ग्रहण करना है कि निर्ग्रंथ-प्रवचनमें प्रवेश करके दृढ़ रहना। जो भी कायोत्सर्ग आदि ध्यान धारण करना हो वह जैसे

---

१. द्वि० आ० पाठा०—कामदेव श्रावककी धर्मदृढ़ता यह बोध-पाठ देती है कि—सद्धर्म और सत्प्रतिज्ञामें परमदृढ़ रहना चाहिये और जैसे बने वैसे कायोत्सर्गादिको एकाग्र चित्तसे और सुदृढ़तासे निर्दोष करना चाहिये।

इसी प्रकार तत्त्वबोधके लिए युक्ति-युक्त न्यायसे अनार्योंके समान धर्ममतवादियोंको हमें शिक्षा देनेका अवसर मिले, तो हम कितने भाग्यशाली हों!

शिक्षापाठ ३० : सर्वजीवोंकी रक्षा—भाग-२

एक समय मगध देशकी राजगृही नगरीका अधिराजा श्रेणिक सभा भरकर बैठा हुआ था। प्रसंगोपात्त बातचीतके अवसरमें मांस-लुब्ध सामन्त बोले, कि आजकल मांस अधिक सस्ता है। यह बात अभयकुमारने सुनी इसलिये उसने हिंसक सामन्तोंको उपदेश देनेका निश्चय किया। सायंकालमें सभा विसर्जित हुई और राजा अपने अन्तःपुरमें चला गया। तत्पश्चात् अभयकुमार कर्तव्यपालनके हेतु उन सबके घरपर गया जिन्होंने मांस सम्बन्धी बात कही थी। अभयकुमार जिन-जिनके घर गया उन्होंने उसका स्वागत सत्कार करनेके बाद पूछा कि आपने हमारे घर पधारनेका किसलिए कष्ट उठाया है! अभयकुमारने कहा : महाराजा श्रेणिकको अचानक एक महारोग उत्पन्न हो गया है। वैद्योंको इकट्ठे करनेपर उन्होंने कहा है कि—यदि किसी कोमल मनुष्यके कलेजेका सवा पैसे भर मांस मिल जाये तो यह रोग मिटे। तुम लोग राजाके प्रिय-मान्य हो इसलिये मै तुम्हारे यहाँ यह मांस लेनेके लिए आया हूँ।

तब प्रत्येक सामन्तने विचार किया कि मरे बिना कलेजेका मांस कैसे दिया जा सकेगा? और अभयकुमारसे कहा कि—महाराज! यह भला कैसे हो सकता है? ऐसा कहकर पश्चात् उन्होंने अपनी बात राजाके सम्मुख प्रकट[1] न करनेके लिए अभयकुमारको बहुत-सा द्रव्य दिया, जिसे अभयकुमार लेता गया। इस प्रकार अभयकुमार सभी सामन्तोंके घर हो आया। कोई भी सामन्त मांस नही दे सका और उन्होने अपनी बातको छिपानेके लिए द्रव्य दिया।

१. द्वि० आ० पाठा०—'इसलिए प्रत्येक सामन्त देता गया और वह'

बोला। तब नारदने कहा कि—"अजका क्या अर्थ है, पर्वत ?" पर्वतने कहा—"अज अर्थात् बकरा।" नारदने कहा—"जब हम तीनो तेरे पिताके पास पढते थे तब तेरे पिताने कहा था कि अजका अर्थ तीन वर्षकी 'व्रीहि' है। अब फिर तू विपरीत अर्थ क्यो करता है ?" इस प्रकार परस्पर वचनोका विवाद बढा। तब पर्वतने कहा—"जो हमे वसुराजा कह दे वह ठीक है।" इस बातको नारदने भी स्वीकार किया और जो जीते उसके लिए अमुक शर्त लगायी। पर्वतकी माँ जो पासमे ही बैठी थी उसने यह सब सुना। उसे भी याद था कि 'अज' का अर्थ 'व्रीहि' है। शर्तमे अपना पुत्र हार जायेगा इस भयसे पर्वतकी माँ रात्रिके समय राजाके पास गई और पूछा कि—राजन्! 'अज' का क्या अर्थ है ? वसुराजाने सम्बधपूर्वक कहा कि अजका अर्थ 'व्रीहि' होता है। यह सुनकर पर्वतकी माँने राजासे कहा कि—"मेरे पुत्रने अजका अर्थ बकरा कह दिया है, इसलिये आपको उसका पक्ष लेना होगा। वे दोनो आपसे पूछनेके लिए जाएँगे।" वसुराजाने कहा "कि मैं असत्य क्यो कहूँगा ? मुझसे यह नही हो सकेगा।" तब पर्वतकी माँने कहा—"परन्तु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष नही लेगे तो मैं आपको हत्याका पाप दूँगी।" राजा विचारमे पड गया कि सत्यके कारण ही मैं मणिमय सिंहासनपर अधर बैठा हूँ, लोक समुदायका न्याय करता हूँ, और लोग भी यही जानते हैं कि राजा सत्यगुणके कारण सिंहासनपर अन्तरीक्षमे बैठता है। अब क्या करना चाहिए ? यदि पर्वतका पक्ष न लूँ तो ब्राह्मणी मरती है, वह तो मेरे गुरुकी पत्नी है। अन्तमे लाचार होकर राजाने ब्राह्मणीसे कहा—"तुम बेखटके जाओ, मैं पर्वतका पक्ष लूँगा।" इस प्रकार निश्चय कराकर पर्वतकी माँ घर आयी। प्रातःकाल नारद, पर्वत और उसकी माँ विवाद करते हुए राजाके पास आए। राजा अनजान होकर पूछने लगा कि क्या बात है, पर्वत ? पर्वत बोला—"राजाधिराज! अजका क्या अर्थ है सो कहिये।" राजाने नारदसे पूछा कि—तुम इसका

और वही गुप्तरीतिसे आम्रवृक्षके पास जाकर मंत्र पढ़कर उसे झुकाया और आम तोड़ लिए। फिर दूसरे मंत्रके द्वारा उसे ज्यों-का-त्यों कर दिया और वह अपने घर आ गया। पश्चात् अपनी स्त्रीकी इच्छापूर्तिके लिए वह चाण्डाल निरन्तर विद्याके वलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते-फिरते मालीकी दृष्टि आम्रवृक्षकी ओर गयी। आमोंकी चोरी हुई जानकर उसने श्रेणिक राजाके समक्ष नम्रतापूर्वक सब हाल कहा। श्रेणिकको आज्ञासे अभय कुमार नामक बुद्धिशाली प्रधानने अपनी युक्तिके द्वारा उस चाण्डालको ढूँढ निकाला। चाण्डालको अपने सम्मुख बुलाकर पूछा कि—बागमें इतने लोग रहते हैं फिर भी तू कैसे ऊपर चढ़कर आम तोड़कर ले गया कि यह बात किसीके जाननेमें भी न आई? सो कह। चाण्डालने कहा—आप मेरा अपराध क्षमा करें। मैं सच कह देता हूँ कि मेरे पास एक विद्या है, उसके प्रभावसे मैं उन आमोंको तोड़ सका। अभयकुमारने कहा कि मुझसे क्षमा नहीं दी जा सकती; किंतु यदि तू महाराज श्रेणिकको यह विद्या देना स्वीकार करे तो उन्हें ऐसी विद्या-प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे तेरे उपकारके वदलेमें अपराध की क्षमा करा सकता हूँ। चाण्डालने इस बातको स्वीकार कर लिया। पश्चात् अभयकुमारने चाण्डालको, जहाँ श्रेणिकराजा सिंहासन पर बैठे थे वहाँ लाकर श्रेणिकके सामने खड़ा कर दिया; और राजा को सब बात कह सुनायी। इस बातको राजाने स्वीकार किया। बादमें चाण्डाल सामने खड़े होकर काँपते पैरों श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा, परन्तु वह बोध नहीं लगा। तब अभय-कुमार झटसे खड़े होकर बोले: राजन्! यदि आप इस विद्याको अवश्य ही सीखना चाहते हैं तो आप सामने आकर खड़े होइए और इसे अपना सिंहासन दीजिए। राजाने विद्या-प्राप्तिके लिये वैसा किया तो उसे तत्काल वह विद्या सिद्ध हो गयी।

यह बात केवल शिक्षा ग्रहण करनेके लिए है। एक चाण्डालकी

तथा दु खदायक होनेसे त्याग करने योग्य है। चाहे जैसा सहवास हो, किन्तु जिसके द्वारा आत्मसिद्धि न हो वह सत्सग नही है। जो आत्मा पर सत्यका रग चढाये वह सत्सग है। जो मोक्षका मार्ग बतावे वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमे निरन्तर एकाग्र रहना भी सत्सग है। सत् पुरुषोका समागम भी सत्सग है। जैसे मलिन वस्त्रको साबुन तथा पानी स्वच्छ कर देते हैं, वैसे ही शास्त्रबोध और सत्पुरुषोका समागम आत्माकी मलिनताको दूर करके शुद्धता प्रदान करते हैं।

जिसके साथ रहकर राग-रग, गान-तान और स्वादिष्ट भोजन सेवन किये जाते हो वह तुम्हे चाहे जितना प्रिय लगता हो, तो भी निश्चय मानना कि वह सत्सग नही, प्रत्युत कुसग है। सत्सगसे प्राप्त हुआ एक वचन भी अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोने ऐसा मुख्य उपदेश दिया है कि—सर्वसगका परित्याग करके अन्तरगमे रहे हुए सर्व विकारोंसे भी विरक्त होकर एकान्तका सेवन करो। इसीमे सत्सगकी स्तुति समा जाती है। सम्पूर्ण एकान्त तो ध्यानमे रहना या योगाभ्यासमे रहना है, परन्तु जिसमेसे एक ही प्रकारकी वृत्तिका प्रवाह निकलता है ऐसा सम-स्वभावीका समागम भावकी अपेक्षा एकरूपता होनेसे बहुत मनुष्योंके होने पर भी, और परस्परका सहवास होने पर भी एकान्तरूप ही है, और ऐसा एकान्त मात्र सत-समागममे निहित है।

कदाचित् कोई यह विचार करे कि—जहाँ विषयीमण्डल एकत्र होता है वहाँ समभाव होनेसे एकान्त क्यो न कहा जाये? उसका तात्कालिक समाधान यह है कि—वे एक स्वभाववाले नही होते। उनमे परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसधान होता है, और जहाँ इन दो कारणोंमे समागम होता है वहाँ एक-स्वभाव अथवा निर्दोषता नही होती। निर्दोष और समस्वभावी-समागम तो परस्पर शान्त मुनीश्वरोंका है, और धर्म [illegible] पुरुष-

चेष्टाओंसे सुदर्शन चलित नहीं हुआ। इससे हारकर रानीने सुदर्शन-को जाने दिया।

एक समय उस नगरमें कोई उत्सव था; इसलिये नगरके वाहर अनेक नगर-जन आनन्दपूर्वक इधर-उधर घूम रहे थे और धूमधाम मची हुई थी। सुदर्शन सेठके देवकुमार जैसे छहपुत्र भी वहाँ आये हुए थे। अभया रानी कपिला नामक दासीके साथ वड़े ही ठाटवाटसे वहाँ आयी थी। सुदर्शनके देवोंके पुतले जैसे छह पुत्र उसके देखनेमें आये। उसने कपिलासे पूछा कि ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं? कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम वतलाया। यह नाम सुनते ही रानीकी छातीमें कटार-सी लग गयी; उसे गहरा घाव लगा। जव सारी धूमधाम समाप्त हो गयी तव अभया रानी और उसकी दासीने मिलकर माया-कथन वनाकर राजासे कहा कि— "आप मानते होंगे कि मेरे राज्यमें न्याय और नीति चलती है; दुर्जनोंसे मेरी प्रजा दु:खी नही है; किन्तु यह सव मिथ्या है। अभी यहाँ तक अँधेर है कि अन्तःपुरमें भी दुर्जन लोग प्रवेश पा जाते हैं! तव फिर दूसरे स्थानोंके संवंधमें तो पूछना ही क्या? आपके नगरके सुदर्शन नामक सेठने मुझे भोगका आमंत्रण किया और नही कहने-योग्य कथन मुझे सुनने पड़े; किंतु मैने उसका तिरस्कार किया। भला इससे वड़ा अंधेर और क्या हो सकता है।"

प्राय: राजा स्वभावसे ही कानके कच्चे होते है, यह वात सर्व-मान्य-जैसी है, उसमें भी स्त्रीके माया भरे मधुर वचन क्या असर नहीं करते? गर्म तेलमें शीतल जलके समान वचनोंसे राजा क्रोधाय-मान हुआ। उसने सुदर्शनको शूलीपर चढा देनेकी तत्काल आज्ञा दे दी; और तदनुसार संम्पूर्ण व्यवस्था भी हो गयी। मात्र सुदर्शनके शूली पर चढ़नेकी ही देर थी।

चाहे जो हो किन्तु सृष्टिके दिव्य भंडारमें उजाला है। सत्यका

खेंची हुई मिथ्या लकीरें इन दोनोंके भेदको जानता है, उतन
ही मुखपाठी अन्य ग्रन्थोंके विचार और निर्ग्रंथ-प्रवचनको भेदरू
मानता है, क्योंकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ-वचनामृतको धारण नहं
किया, और उसपर यथार्थ तत्त्व-विचार नही किया। यद्यपि तत्त्व
विचार करनेमे समर्थ बुद्धि-प्रभावकी आवश्यकता है, तो भी कुछ
विचार अवश्य कर सकता है। पत्थर पिघलता नही, फिर भं
पानीसे भीग जाता है, इसी तरह जिसने वचनामृत कठस्थ किय
हो, वह अर्थ-सहित हो तो बहुत उपयोगी हो सकता है, नही तं
तोतेवाला राम नाम। तोतेको कोई परिचयमें आकर राम ना
कहना भले ही, सिखला दे, परन्तु तोतेकी बला जाने, कि रा
अनारको कहते हैं या अगूरको। सामान्य अर्थके समझे विना ऐर
होता है। कच्छी वैश्योका एक दृष्टान्त कहा जाता है, वह कु
हास्ययुक्त अवश्य है, परन्तु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती
इसलिये इसे यहाँ कहता हूँ। कच्छके किमी गाँवमे श्रावक-धर्मव
पालते हुए रायशी, देवशी और खेतशी नामके तीन ओसवा
रहते थे। वे नियमित रीतिसे सध्याकाल और प्रभातमे प्रतिक्रम
करते थे। प्रभातमें रायशी और सध्याकालमे देवशी प्रतिक्रम
कराते थे। रात्रिका प्रतिक्रमण रायशी कराता था और रात्रि
सम्बन्धमे 'रायशी पडिक्कमणु ठायमि' इस तरह उसे बुलवा
पडता था। इसी तरह देवशीको दिनका सम्बन्ध होनेसे 'देव
पडिक्कमणु ठायमि' यह बुलवाना पडता था। योगानुयोगसे ए
दिन बहुत लोगोंके आग्रहसे सध्याकालमें खेतशीको प्रतिक्रम
बुलवाने बैठाया। खेतशीने जहाँ 'देवशी पडिक्कमणु ठायमि' आय
वहाँ 'खेतशी पडिक्कमणु ठायमि' यह वाक्य लगा दिया। य
सुनकर सब हँसने लगे और उन्होंने पूँछा, ऐसा क्यो? खेतशी बोल
क्यों इसमें क्या हुआ। सबने कहा कि तुम 'खेतशी पडिक्कम

इस समस्त संसारकी नायकरूप एक रमणी ही है। जिन्होंने उसका त्याग किया है उन्होंने केवल शोकस्वरूप सब कुछ त्याग दिया है ॥ २ ॥

जैसे एक राजाके जीत लेनेसे उसका सैन्य, नगर और अधिकार जीत लिया जाता है उसी प्रकार एक विषयको जीत लेनेसे समस्त संसार जीत लिया जाता है ॥ ३ ॥

जैसे थोड़ा-सा मदिरापान करनेसे जीव अज्ञानमें उन्मत्त हो जाता है उसी प्रकार विषयरूपी अंकुरसे ज्ञान और ध्यान नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥

जो विशुद्ध नौ वाड़पूर्वक सुखदायी शीलको धारण करता है उसका संसारभ्रमण अत्यल्प रह जाता है; हे भाई ! यह तत्त्व-वचन है ॥ ५ ॥

सुन्दरशीलरूपी कल्पवृक्षको जो नरनारी मन, वचन और काया-से सेवन करेंगे वे अनुपम फलको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

पात्रके विना कोई वस्तु नहीं रहती, पात्रतासे ही आत्मज्ञान होता है इसलिए हे बुद्धिमान लोगो ! पात्र बननेके लिए सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करो ॥ ७ ॥

शिक्षापाठ ३५ : नवकारमंत्र

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं ॥

इन पवित्र वाक्योंको निर्ग्रंथप्रवचनमें नवकार, नमस्कारमंत्र अथवा पंचपरमेष्ठीमन्त्र कहते हैं। अर्हंत भगवान्के बारहगुण, सिद्ध भगवान्के आठ गुण, आचार्यके छत्तीसगुण, उपाध्यायके पच्चीस गुण और साधुके सत्ताईस गुण मिलकर एक सौ आठ गुण हुए। अँगूठेके विना बाकीकी चार अँगुलियोंके बारह पोरवे होते हैं और इनसे इन गुणोंके चिंतवन करनेकी व्यवस्था होनेसे बारहको नौसे गुणा करने

पानीका फेंकना, जूठनका रख छोडना, पटडेके विना धधकती थालीका नीचे रखना, इनसे हमे इस लोकमे अस्वच्छता, असुविधा, अस्वस्थता इत्यादि फल मिलते हैं और यह महापापके कारण भी हो जाते है। इसलिये कहनेका तात्पर्य यह है कि चलनेमे, बैठनेमे, उठनेमे, भोजन करनेमे और दूसरी हरएक क्रियामे यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। इमसे द्रव्य और भाव दोनो प्रकारके लाभ हैं। चालको धीमी और गम्भीर रखना, घरका स्वच्छ रखना, पानीका विधि सहित छानना, काष्ठ आदि ईंधनका झाडकर उपयोग करना, ये कुछ अपने लिए असुविधा देनेवाले काम नही और इनमे विशेप समय भी नही जाता। ऐसे नियमोको प्रविष्ठ करनेके पश्चात् पालना भी मुश्किल नही है। इससे विचारे असख्यात निरपराधी जन्तुओकी रक्षा हो जाती है।

प्रत्येक कामको यत्नापूर्वक ही करना विवेकी श्रावकका कर्तव्य है।

शिक्षापाठ २८ रात्रि भोजन

अहिंसादिक पाँच महाव्रतोकी भाँति भगवान्ने रात्रिभोजन-त्याग व्रत भी कहा है। रात्रिमे चार प्रकारका आहार अभक्ष्यरूप है। आहारका जिस प्रकारका रग होता है उसी प्रकारके तमस्काय नामक जीव उस आहारमे उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त रात्रिभोजनमे और भी अनेक दोप हैं। रात्रि भोजन करनेवाले को रसोईके लिए अग्नि जलानी होती है, तव पासकी दीवारपर रहे हुए निरपराधी अनेक सूक्ष्म जीव-जन्तु नष्ट हो जाते हैं। ईंधनके लिए लाये गए काष्ठादिमे रहनेवाले जन्तु भी रात्रिमे नही दिखलाई देनेसे नाशको प्राप्त होते हैं, इसके अतिरिक्त रात्रिभोजनमे सर्प-विपका, मकडीकी लारका और मच्छर आदिक सूक्ष्म जन्तुओका भी भय रहता है। किसी समय यह कुटुम्ब आदिके लिए भयकर रोगका कारण भी हो जाता है।

प्रश्नकर्त्ता—सत्पुरुष नवकार मंत्रको मोक्षका कारण कहते हैं, इस वातको मै भी इस व्याख्यानसे मान्य रखता हूँ।

अरहंत भगवान, सिद्ध भगवान, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका एक-एक प्रथम अक्षर लेनेसे "असिआउसा" यह महान् वाक्य वनता है। जिसका ॐ ऐसा योगविंदुका स्वरूप होता है। इसलिए हमें इस मंत्रका अवश्य ही विमलभावसे जाप करना चाहिये।

शिक्षापाठ ३६ : अनानुपूर्वी

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

पिता—इस प्रकारके कोष्टकसे भरी हुई एक छोटी पुस्तक है, क्या तूने उसे देखा है?

पुत्र—हाँ, पिताजी।

पिता—इसमें उल्टे-सीधे अंक रखे है, क्या इसका कुछभी कारण तेरी समझमें आया है?

पुत्र—नहीं पिताजी मेरी समझमें नही आया। इसलिए आप वह कारण बतलाइए।

ऐसा विचार नही कर सकते, वे लोग रात दिन पाप ही पापमे मगन रहते है। वेद और वैष्णवादि पन्थोमे भी सूक्ष्म दया सम्बन्धी कोई विचार देखनेमे नही आता। फिर भी ये लोग दयाको बिल्कुल नही समझने वालेकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं। स्थूल जीवोकी रक्षा करनेमे ये लोग ठीक समझे है परन्तु इन सबकी अपेक्षा हम कितने भाग्यशाली हैं कि जहाँ एक पुष्पकी पखडीको भी पीडा हो, वहाँ पाप है, इस वास्तविक तत्त्वको समझे, और यज्ञ-यागदिककी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे है। जहाँ तक बनता है सम्पूर्ण प्रयत्नसे जीवको बचाते है और जान-बूझकर किसी जीवको मारनेकी अपनी किंचित्-मात्र भी इच्छा नही होती। अनन्त काय-अभक्ष्यसे प्राय हम लोग विरक्त ही है। इस कालमे यह समस्त पुण्यप्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके द्वारा कहे हुए परमतत्त्वबोधके योग-बलसे बढा है।

मनुष्य ऋद्धिको प्राप्त करते है, सुन्दर स्त्रीको प्राप्त करते हैं, आज्ञाकारी पुत्र प्राप्त करते हैं, बहुत बडा कुटुम्ब परिवार प्राप्त करते है, मान-प्रतिष्ठा और अधिकार पाते हैं, और यह सब कुछ प्राप्त करना कोई दुर्लभ नही है। किन्तु वास्तविक धर्मतत्त्व, उसकी श्रद्धा अथवा उसका थोडा अश भी प्राप्त करना महादुर्लभ है। ये ऋद्धि इत्यादि अविवेकसे पापका कारण होकर अनन्त दु खमे ले जाती हैं, परन्तु यह थोडी श्रद्धा-भावना भी उत्तम पदवीमे पहुँचाती है। यह दयाका सत् परिणाम है। हमने धर्म-तत्त्व युक्त कुलमे जन्म पाया है, इसलिए अब जैसे भी बने वैसे विमल दयामय-आचारमे आना चाहिए। सब जीवोकी रक्षा करनी, यह बात हमें सदैव लक्ष्यमे रखनी चाहिए। दूसरोको भी ऐसी ही युक्ति-प्रयुक्तियोंसे उपदेश देना चाहिए। सब जीवोकी रक्षा करनेके लिए एक शिक्षाप्रद उत्तम युक्ति बुद्धिशाली अभयकुमारने की थी, उसे मैं आगेके पाठमे कहता हूँ,

शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोंसे होती है; 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस सम भावनासे उत्पन्न होने वाला ज्ञानदर्शन-चारित्ररूप मोक्ष-मार्गका लाभ और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो वह सामायिक है। आर्त्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके, मन, वचन और कायाके पाप-भावोंको रोककर विवेकी श्रावक सामायिक करते हैं।

मनके पुद्‌गल दोरंगी (तरंगी) हैं। सामायिकमें जब विशुद्ध परिणामसे रहना कहा है तब भी यह मन आकाश पातालके घाट गढ़ता रहता है। इसी प्रकार भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचन और कायामें भी दूषण आनेसे सामायिकमें दोष लगता है। मन, वचन और कायाके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। मनके दस, वचनके दस और कायाके बारह इस प्रकार बत्तीस दोषोंको जानना आवश्यक है। इसके जाननेसे मन सावधान रहता है।

अब मनके दस दोष कहता हूँ—

१. **अविवेकदोष**—सामायिकका स्वरूप नहीं जाननेसे मनमें ऐसा विचार करे कि इससे क्या फल होना था? इससे तो भला कौन तिरा होगा? ऐसे विकल्पों का नाम 'अविवेक दोष' है।

२ **यशोवांछादोष**—स्वयं सामायिक करता है, ऐसा दूसरे लोग जान लें तो वे प्रशंसा करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना इत्यादि सो 'यशोवांछादोष' है।

३. **धनवांछादोष**—धनकी इच्छासे सामायिक करना सो 'धन-वांछादोष' है।

४. **गर्वदोष**—मुझे लोग धर्मात्मा कहते है और मै कैसी सामा-यिक भी वैसे ही करता है? यह 'गर्वदोष' है।

पश्चात्, दूसरे दिन जब सभा भरी उस समय सभी सामन्त अपने-अपने आसनपर आकर बैठे। राजा भी सिंहासनपर विराजमान थे। सभी सामन्त आ-आकर राजासे कलकी कुशल पूछने लगे। राजा इस बातसे विस्मित हुआ। उसने अभयकुमारकी ओर देखा। अभयकुमार बोला महाराज! कल आपके सामन्तोंने सभामे कहा था कि आजकल मास सस्ता मिलता है, इसलिये मै उनके घर मास लेनेके लिए गया था, तब सभीने मुझे बहुत द्रव्य तो दिया किन्तु कलेजेका सवा पैसे भर मास किसीने भी नही दिया। तब मै पूछता हूँ कि वह मास सस्ता है या महँगा? यह सुनकर सभी सामन्त लज्जित होकर नीचेकी ओर देखने लगे, कोई कुछ नही बोल सका। इसके बाद अभयकुमारने कहा यह मैंने कुछ तुम लोगोको कष्ट देनेके लिए नही किया, परन्तु उपदेश देनेके लिए किया है। जब हमें अपने शरीरका मास देना पडे तो अनन्त भय उत्पन्न होता है, क्योकि हमे अपना शरीर प्रिय है। इसी प्रकार जिस जीवका वह मास होगा उसे भी अपना जीवन प्रिय होगा। जैसे हम अमूल्य द्रव्य देकर भी अपने शरीरको बचाते हैं उसी प्रकार उन बेचारे पामर प्राणियोको भी होना चाहिये। हम समझदार, बोलने-चालनेवाले प्राणी हैं, और वे बेचारे अवाचक और बे-समझ प्राणी हैं। उन्हे मौतका दु ख देना कितने प्रबल पापका कारण है? हमे यह वचन निरन्तर ध्यानमे रखना चाहिये कि—सभी प्राणियोको अपना-अपना जीव प्यारा है। और सर्व जीवोकी रक्षाके समान एक भी धर्म नही है।

अभयकुमारके इस भाषणसे श्रेणिक महाराजको सन्तोष हुआ, सभी सामन्तोंने भी शिक्षा ग्रहण की। उन्होने उसी दिनसे मास नही खानेकी प्रतिज्ञा की, क्योकि एक तो वह अभक्ष्य है और दूसरे वह किसी जीवको मारे बिना मिलता नही है, यह बडा अधर्म है। अत अभय-प्रधानका कथन सुनकर उन्होंने अभयदानमें लक्ष्य दिया, जो कि आत्माके परमसुखका कारण है।

५. **संक्षेपदोष**—सूत्रके पाठ इत्यादिक संक्षेपमें बोल जावे और यथार्थ उच्चारण करे नहीं सो 'संक्षेपदोष' है।

६. **क्लेशदोष**—किसीसे झगडा करे सो 'क्लेशदोष' है।

७. **विकथादोष**—चार प्रकारकी विकथा कर बैठना सो 'विकथा-दोष' है।

८. **हास्यदोष**—सामायिकमें किसीकी हँसी, मज़ाक करे सो 'हास्यदोष' हे।

९. **अशुद्धदोष**—सामायिकमें सूत्रपाठ न्यूनाधिक और अशुद्ध बोले सो 'अशुद्धदोष' है।

१०. **मुणमुणदोष**—गड़वड़ घोटालेसे सामायिकमें इस प्रकार सूत्रपाठ बोले कि जिसे स्वयं भी कठिनतासे पूरा समझ सके वह 'मुणमुणदोष' है।

इस प्रकार वचनके दस दोष कहे; अब कायाके बारह दोष कहता हूँ—

१. **अयोग्यआसनदोष**—सामायिकमें पैर पर पैर चढ़ाकर बैठे यह गुर्वादिकका अविनयरूप आसन, सो पहला अयोग्यआसन दोष है।

२. **चलासनदोष**—डगमगाते हुये आसन पर बैठकर सामायिक करे, अथवा जहाँसे बार-बार उठना पड़े ऐसे आसन पर बैठे सो 'चलासनदोष है'।

३. **चलदृष्टिदोष**—कायोत्सर्गमें आँखोंको चंचल रखे सो 'चल-दृष्टिदोष' है।

४. **सावद्यक्रियादोष**—सामायिकमें कोई पाप क्रिया अथवा उसकी संज्ञा करे सो 'सावद्यक्रियादोष' है।

५. **आलंबनदोष**—भींत आदिका सहारा लेकर बैठना, जिससे

भी विनय किये विना श्रेणिक जैसे राजाको विद्याकी सिद्धि नही हुई, इसलिए इसमेसे यही सार ग्रहण करना है कि सद्‌विद्याको सिद्ध करनेके लिए विनय करना आवश्यक है। आत्म विद्याकी प्राप्तिके लिए यदि हम निर्ग्रन्थ गुरुका विनय करे तो कैसा मगलदायक हो।

विनय यह उत्तम वशीकरण हे। भगवान्‌ने 'उत्तराध्ययन' मे विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णित किया है। गुरुका, मुनिका, विद्वान्‌का, माता-पिताका और अपनेसे वडोका विनय करना अपनी उत्तमताका कारण है।

शिक्षापाठ ३३ सेठ सुदर्शन

प्राचीनकालमे शुद्ध एक-पत्नीव्रत को पालनेवाले असख्य पुरुष हो गये है, उनमेसे सकट सहन करके विख्यात होनेवाले सुदर्शन नामक एक सत्पुरुष भी हो गये है। यह धनाढ्य, सुन्दर मुखाकृतिवाले, कान्तिमान और युवावयके थे। वह जिस नगरमे रहते थे, उस नगरके राजदरबारके आगेसे किसी कार्यवश उन्हे निकलना पडा। जिस समय वह वहासे निकले तव राजा की अभया नामकी रानी अपने महलके झरोखेमे वैठी हुई थी। वहाँसे उसकी दृष्टि सुदर्शनकी ओर गयी। उसका उत्तमरूप और शरीर-सौष्ठव देखकर उसका मन ललचा गया और अभयाने एक दासीको भेजकर कपटभावसे निर्मल कारण वतलाकर सुदर्शनको ऊपर बुलवाया। अनेक प्रकारकी वातचीत करनेके वाद अभयाने सुदर्शनको भोग भोगनेके सवधमे आमत्रण दिया। सुदर्शनने कितना ही उपदेश दिया फिर भी अभयाका मन शात नही हुआ। अन्तमे परेशान होकर सुदर्शनने युक्तिपूर्वक कहा कि—"वहिन। मैं पुरुपत्वमे नही हूँ।" तो भी रानीने अनेक प्रकारके हाव-भाव वतलाये। किंतु इन सब काम-

यिकके साथ प्रतिक्रमण करना होता है तव तो समय वीतना सुगम हो जाता है। यद्यपि ऐसे पामर लोग लक्षपूर्वक प्रतिक्रमण नहीं कर सकते। फिर भी मात्र निठल्ले वैठनेकी अपेक्षा इसमें अवश्य कुछ अंतर पड़ता है। जिन्हें पूरी सामायिक भी नहीं आती वे बेचारे फिर सामायिकमें बहुत दुविधा पाते है। बहुतसे वहुकर्मी लोग इस अवसरपर व्यवहारके अनेक प्रपंच भी गढ़ रखते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होती है।

विधिपूर्वक सामायिक न बने यह वहुत खेदकारक और कर्मकी बहुलता है। साठ घड़ीके दिन-रात व्यर्थ चले जाते है। असंख्यात दिनोंसे भरपूर अनंते कालचक्र व्यतीत करने पर भी जो सार्थक नहीं हुआ वह दो घड़ीकी विशुद्ध सामायिक सार्थक कर देती है। लक्षपूर्वक सामायिक होवे इसलिए सामायिकमें प्रवेश करनेके वाद चार लोगस्ससे अधिक लोगस्सका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता प्राप्त करनी चाहिए। तत्पश्चात् सूत्रपाठ अथवा उत्तम ग्रंथका मनन करना चाहिए। वैराग्यके उत्तम काव्योंका पाठ करना चाहिए। पूर्वके अध्ययन किये हुएका स्मरण कर जाना चाहिए और यदि नूतन अभ्यास हो सके तो करना चाहिए। किसीको शास्त्राधारसे उपदेश देना चाहिए, इस प्रकार सामायिकका समय व्यतीत करना चाहिए। यदि मुनिराजका समागम हो तो उनसे आगमवाणी सुनना और मनन करना चाहिए। यदि वैसा न हो और शास्त्रपरिचय भी न हो तो विचक्षण अभ्यासीके पाससे वैराग्यवोधक कथन श्रवण करना चाहिए; अथवा कुछ अभ्यास करना चाहिए। यदि यह सब अनुकूलताएँ न हों तो कुछ समय लक्षपूर्वक कायोत्सर्गमें लगाना चाहिए; और कुछ समय महापुरुषोंकी चरित्र-कथामें उपयोगपूर्वक लगाना चाहिए। किंतु जैसे बने वैसे विवेक और उत्साहसे सामायिककाल व्यतीत करना चाहिए।

प्रभाव ढका नही रहता। सुदर्शनको शूलीपर बिठाते ही उस शूलीकी जगह चमकता हुआ सोनेका सिंहासन बन गया, और देव-दुन्दुभिका नाद हुआ, सर्वत्र आनद व्याप्त हो गया। सुदर्शनका सत्य-शील विश्वमडलमे चमक उठा। सत्य-शीलकी सदा जय होती है। शील और सुदर्शनकी उत्तम दृढता ये दोनो आत्माको पवित्र श्रेणी पर चढाते हैं।

शिक्षापाठ ३४ ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी सुभाषित

(दोहा)

निरखीने नवयौवना, लेश न विषयनिदान।
गणे काष्ठनी पूतळी, ते भगवान समान॥ १॥
आ सघळा ससारनी, रमणी नायकरूप।
ए त्यागी, त्याग्युं बधु, केवळ शोकस्वरूप॥ २॥
एक विषयने जीतता, जीत्यो सौ ससार।
नृपति जीतता जीतिये, दळ, पुर ने अधिकार॥ ३॥
विषयरूप अंकुरथी, टळे ज्ञान ने ध्यान।
लेश मदिरापानथी, छाके ज्यम अज्ञान॥ ४॥
जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियळ सुखदाई।
भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्व वचन ए भाई॥ ५॥
सुदर शियळ सुरतरु, मन वाणी ने देह।
जे नरनारी सेवशे, अनुपम फळ ले तेह॥ ६॥
पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान।
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान॥ ७॥

जो नवयौवनाको देखकर किंचित्मात्र भी विषय विकारको प्राप्त नही होते और जो उसे काठकी पुतलीके समान मानते हैं वे भगवानके समान हैं॥ १॥

और अनुकंपा उमड़ आते हैं; आत्मा कोमल होता है और त्यागने योग्य वस्तुका विवेक आता जाता है। भगवानकी साक्षीसे अज्ञान इत्यादि जिन-जिन दोपोंका विस्मरण हुआ हो उनका पश्चात्ताप भी हो सकता है। इस प्रकार यह निर्जरा करनेका उत्तम साधन है।

इसका "आवश्यक" नाम भी है। आवश्यकका अर्थ है अवश्य करने योग्य; यह सत्य है। उसके द्वारा आत्माकी मलिनता दूर होती है इसलिये यह अवश्य करने योग्य ही है।

जो प्रतिक्रमण सायंकालमें किया जाता है उसका नाम "देवसीय पडिक्कमण" अर्थात् दिवस संबंधी पापोंका पश्चात्ताप; और रात्रिके पिछले भागमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है; उसे 'राइयपडिक्कमण' कहते हैं। 'देवसीय' और 'राइय' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं। पक्षमें किये जाने वाले प्रतिक्रमणको पाक्षिक और संवत्सरपर किये जानेवालेको सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कहते हैं। सत्पुरुपोंकी योजना द्वारा बाँधा हुआ यह सुन्दर नियम है।

बहुतसे सामान्य बुद्धिमान लोग ऐसा कहते है कि दिन और रात्रिका इकट्ठा प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण सवेरे किया जाय तो कोई बुराई नही, परन्तु ऐसा कहना प्रामाणिक नही है, क्योंकि यदि रात्रिमें अकस्मात् कोई कारण आ जाय अथवा मृत्यु हो जाय, तो दिवससम्बंधी प्रतिक्रमण भी रह जाय।

प्रतिक्रमण-सूत्रकी योजना बहुत सुंदर है। इसके मूलतत्त्व बहुत उत्तम है। जैसे-बने-वैसे प्रतिक्रमण धीरजसे, समझमें आ सकने वाली भाषासे, शांतिसे, मनकी एकाग्रतासे और यत्नापूर्वक करना चाहिए।

शिक्षापाठ ४१ : भिखारीका खेद—भाग–१

एक पामर भिखारी जंगलमें भटकता फिरता था। वहाँ उसे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२४	६	न नीरखुँ	ना नीरखु
१२८	१२	अवकारु	अवधारु
१२७	९	वरावर	बरावर
१२७	१६	वेसुध	बेसुध
१३१	५	ऊठवानो	ऊठवानी
१३६	२	किये	कि ये
१३६	२०	चक्रवर्ती	चक्रवर्ती
१३९	१२	मन पययज्ञान	मन पर्ययज्ञान
१४२	१६	नत्र	मत्र
१४४	४	विल्कुल	बिल्कुल
१५६	२५	असातावेदनीय	सातावेदनीय
१६०	१५	परत्माको	परात्माको
१६१	४	है	हैं
१६२	१	प्राप्र	प्राप्त
१६२	१	सुख सुख	सुख
१६५	९	है	हैं
१६६	१७	विपयक्रीडाकी	विपयक्रीडा की
१७३	६	विरगी	विरगी
१८१	२१	मति और श्रुतपान	मति और श्रुतज्ञान
१८५	१	पांसडी	पासडी
१८६	२१	निर्ग्रथ	निर्ग्रन्थ
२०७	३	प्राप्तको	प्राप्त को
२०९	२	समागमये	समागम ये
२१५	८	व्याख्याकी	व्याख्या की

हुआ घड़ा पड़ा हुआ था उसी स्थान पर वह घड़ा पड़ा हुआ है; जहाँ फटी पुरानी गुदड़ी पड़ी थी वही वह पड़ी हुई है। उसने स्वयं जैसे मैले-कुचैले और जाली-झरोखेवाले कपड़े पहन रखे थे वैसेके वैसे ही वे कपड़े उसके शरीर पर विराजते है। न तो तिल-भर कुछ बढ़ा और न ही जौ-भर घटा। न तो वह देश है न वह नगरी; न वह महल न वह पलंग; न वे चँवर-छत्र ढोरनेवाले न वे छड़ीदार; न वे स्त्रियाँ न वे वस्त्रालंकार; न वे पंखे न वह पवन; न वे अनुचर न वह आज्ञा; न वह सुख विलास और न वह मदोन्मत्तता; बेचारा वह तो जैसा था वैसाका वैसा ही दिखलाई दिया। इसलिए उस दृश्यको देखकर उसके मनमें खेद हुआ। मैंने स्वप्नमें मिथ्या आडम्बर देखा और उससे आनंद माना; किंतु उसमेंका तो यहाँ कुछ भी नही है; स्वप्नके भोग तो भोगे नही किंतु उसका परिणाम जो खेद है वह मैं भोग रहा हूँ; इस प्रकार वह पामर जीव पश्चात्तापमें पड़ गया।

अहो भव्यो! भिखारीके स्वप्नकी भाँति संसारके सुख अनित्य हैं। जिस प्रकार स्वप्नमें भिखारीने सुख-समुदाय देखा और आनंद माना, उसी प्रकार पामर प्राणी संसार-स्वप्नके सुख-समुदायमें आनंद मानते है। जैसे वह सुख-समुदाय जागने पर मिथ्या मालूम हुआ उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर संसारके सुख मिथ्या प्रतीत होते है। जैसे भिखारीको स्वप्नके भोग न भोगने पर भी खेदकी प्राप्ति हुई, वैसे ही मोहान्ध प्राणी संसारमें सुख मान बैठते है; और उन्हें भोगे हुएके समान मानते है; किंतु परिणाममें खेद, दुर्गति और पश्चाताप ही प्राप्त करते है। वे चपल और विनाशीक होते हुए भी उनका परिणाम स्वप्नके खेद जैसा ही रहा है। इसपरसे बुद्धिमान पुरुष आत्महितको खोजते है। संसारकी अनित्यता पर एक काव्य है कि :—

पर १०८ होते हैं। इसलिए नवकार कहनेसे यह आशय मालूम होता है कि हे भव्य ! अपनी अगुलियोके पोरवोसे नवकार मत्र नौ वार गिन। 'कार' शब्दका अर्थ करनेवाला भी होता है। बारहको नौसे गुणा करने पर जितने हो, उतने गुणोसे भरा हुआ मत्र, इसप्रकार नवकारमत्रके रुपमे उसका अर्थ हो सकता है, और पचपरमेष्ठीका अर्थ इस सकल जगतमे पाँच वस्तुएँ परमोत्कृष्ट है, वे कौन-कौनसी है ? तो उत्तर देते हैं कि अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनको नमस्कार करनेका जो मत्र वह परमेष्ठीमत्र है और पाँच परमेष्ठियोंको एक साथमे नमस्कार होनेसे, 'पचपरमेष्ठी-मत्र' यह शब्द बना। यह मत्र अनादिसिद्ध माना जाता है। कारण कि पचपरमेष्ठी अनादिसिद्ध हैं। इसलिए ये पाँचो पात्र आद्यरूप नही हैं। ये प्रवाहसे अनादि है। और उसके जपनेवाले भी अनादिसिद्ध हैं। इसलिए यह जाप भी अनादिसिद्ध ठहरता है।

प्रश्न—इस पचपरमेष्ठीमत्रके परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गतिको पाते हैं, ऐसा सत्पुरुष कहते हैं। इस विषयमे आपका क्या मत है ?

उत्तर—यह कहना न्यायपूर्वक है, ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रश्न—इसे किस कारणसे न्यायपूर्वक कहा जा सकता है ?

उत्तर—हाँ। यह मैं तुम्हे समझाता हूँ। मनके निग्रहके लिए एक तो सर्वोत्तम जगद्‌भूषणके सत्य गुण का यह चितवन है। तत्त्वमे देखने पर अर्हंतस्वरूप, सिद्धस्वरूप, आचार्यस्वरूप, उपाध्यायस्वरूप और साधुस्वरूप इनका विवेक पूर्वक विचार करनेका भी यह सूचक है। क्योकि वे किस कारणसे पूजने योग्य हैं ? ऐसा विचार करनेपर इनके स्वरूप, गुण इत्यादिका विचार करनेकी सत्पुरुषको तो सच्ची आवश्यकता है। अब कहो कि इस प्रकार यह मत्र कितना कल्याण कारक है ?

उन्होंने एक अद्भुत क्षमामय चरित्रसे महासिद्धिको प्राप्त किया, उसे मै यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामक ब्राह्मणकी सुरूपवर्णसम्पन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। किंतु विवाह होनेसे पूर्व गजसुकुमार तो संसार त्यागकर चले गये। इसलिए अपनी पुत्रीके सुख-हननके द्वेषसे उस सोमल ब्राह्मणको भयंकर क्रोध व्याप्त हो गया। वह गजसुकुमारको ढूँढ़ता-ढूँढ़ता उस स्मशान-भूमिमें जा पहुँचा जहाँ महामुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्धभावसे कायोत्सर्गमें लीन थे और कोमल गजसुकुमारके मस्तकपर चिकनी मिट्टीकी वाड़ बनाकर उसके भीतर धधकते हुए अंगारे भरे, [illegible] धनसे पूर: दया जिससे महाताप उत्पन्न हुआ। ऐसा होनेसे जव गजसुकुमारका कोमल शरीर जलने लगा तब वह सोमल वहाँसे चल दिया।

उस समयके गजसुकुमारके असह्य दुःखोंका क्या वर्णन किया जा सकता है? परन्तु फिर भी गजसुकुमार समभाव-परिणाममें लीन रहे। उनके हृदयमें किंचित्मात्रभी क्रोध या द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने अपने आत्माको स्थितिस्थापक दशामें लाकर उपदेश दिया कि देख! यदि तूने इसकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह तुझे कन्यादानमें पगड़ी देता, वह पगड़ी थोड़े समयमें फट जाती तथा वह अंतमें दुःखदायक होती, किंतु यह इसका वहुत बड़ा उपकार हुआ कि इसने इस पगड़ीके बदले मोक्षकी पगड़ी बँधवाई। ऐसे विशुद्धपरिणामोंसे अडिग रहकर समभावसे वह असह्य वेदना सहन करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अनंत जीवन सुखको प्राप्त किया।

अहो! कैसी अनुपम क्षमा और कैसा सुन्दर उसका परिणाम! तत्त्वज्ञानियोंका कथन है कि आत्माको मात्र अपने सद्भावमें आना चाहिए; और ऐसा हुआ तो मोक्ष हथेलीमें ही है। गजसुकुमारकी यह सुविख्यात क्षमा हमें कैसा विशुद्ध बोध देती है!

पिता—पुत्र ! यह प्रत्यक्ष है कि मन एक बहुत चचल वस्तु है; और इसे एकाग्र करना अत्यत विकट है। जब तक वह एकाग्र नही होता तब तक आत्ममलिनता दूर नही होती और पापके विचार कम नहीं होते। इस एकाग्रताके लिए भगवानने बारह प्रतिज्ञा आदि अनेक महान् साधन कहे हैं। मनकी एकाग्रतासे महायोगकी श्रेणी पर चढनेके लिए और उसे अनेक प्रकारसे निर्मल करनेके लिए सत्पुरुषोंने यह एक कोष्टकावली बनायी है। इसमे पहले पच-परमेष्ठी मन्त्रके पाँच अक रखे है, और फिर लोम-विलोमस्वरूपसे इन पाँच अकोको लक्ष्यबद्ध रखकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे कोष्टक बनाये हैं। ऐसा करनेका कारण भी यही है कि जिससे मनकी एकाग्रता प्राप्त करके निर्जरा की जा सके।

पुत्र—पिताजी ! अनुक्रमसे लेनेसे ऐसा क्यो नही हो सकता ?

पिता—यदि लोम-विलोम हो तो उन्हे जोडते जाना पडे और नाम याद करते रहना पडे। पाँचका अक रखनेके बाद दोका अक आये तो 'नमो लोए सव्वसाहूण' के बादमे 'नमो अरिहताण' यह वाक्य छोडकर 'नमो सिद्धाण' वाक्य याद करना पडे। इस प्रकार पुन पुन लक्ष्यकी दृढता रखनेसे मन एकाग्रताको प्राप्त होता है। यदि ये अक अनुक्रमबद्ध हो तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योकि उसमे विचार नही करना पडता। इस सूक्ष्म समयमे मन परमेष्ठीमन्त्रमेसे निकलकर ससार-तन्त्रकी खटपटमे जा पडता है और कभी धर्मकी जगह अनर्थ भी कर बैठता है, इसीलिए सत्पुरुषोंने इस अनानुपूर्वीकी योजनाकी है, वह बहुत सुन्दर है और आत्मशान्तिको देनेवाली है।

शिक्षापाठ ३७ सामायिक विचार—भाग १

आत्मशक्तिका प्रकाशक, सम्यग्ज्ञान-दर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधिभावमे प्रवेश करानेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देने-वाला, राग-द्वेषमे मध्यस्थ बुद्धि करनेवाला ऐसा सामायिक नामका

कुछ समय बाद कपिल श्रावस्तीमें शास्त्रीजीके घर जा पहुँचा, और प्रणाम करके अपना सब इतिहास कह सुनाया। शास्त्रीजीने मित्रपुत्रको विद्यादान देनेके लिए बहुत आनन्द प्रदर्शित किया। किन्तु कपिलके पास कोई पूँजी नहीं थी कि जिसमेंसे वह खा-पी सके और विद्याभ्यास कर सके। इसलिये उसे नगरमें भिक्षावृत्तिके लिये जाना पड़ता था। याचना करते-करते उसे दोपहर हो जाती थी, इसके बाद वह रसोई बनाना और भोजन करता कि इतनेमें सन्ध्या हो जाती थी। इसीमें फँसे रहनेके कारण वह कोई विद्याभ्यास नहीं कर पाता था। जब पण्डितजीने उसका कारण पूछा तो कपिलने उन्हें सब कह सुनाया। पंडितजी उसे एक गृहस्थके पास ले गये। और उस गृहस्थने कपिल पर दया करके एक विधवा ब्राह्मणीके घर ऐसी व्यवस्था कर दी कि जिससे उसे हमेशा भोजन मिलता रहे; इससे कपिलकी एक चिन्ता कम हुई।

शिक्षापाठ ४७ : कपिलमुनि—भाग-२

यह एक छोटी चिंता कम हुई वहाँ दूसरा बड़ा जंजाल खड़ा हो गया। भोला कपिल अब युवा हो गया था। और जिसके यहाँ वह भोजनके लिए जाता था वह बाई भी युवती थी। उसके घरमें उसके साथ दूसरा कोई आदमी नहीं था। दोनोंमें प्रतिदिन पारस्परिक बातचीतका संबंध बढ़ा और बढ़कर हास्य-विनोदके रूपमें परिणत हुआ; ऐसा करते करते दोनोंमें प्रीति बँध गई। कपिल उसपर लुब्ध हो गया! सचमुच, एकान्त बहुत अनिष्ट वस्तु हैं!!

इस चक्करमें पड़कर कपिल विद्या प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी ओरसे मिलने वाले सीधेमें दोनोंका निर्वाह कठिनतासे हो पाता था; परंतु कपड़े-लत्तेकी परेशानी होने लगी। कपिलने गृहस्थाश्रम बसा लेने-जैसा कर डाला। चाहे-जैसा होने पर भी

५ भयदोष—मैं श्रावक कुलमें जन्मा हूँ, मुझे लोग बड़ा समझकर सम्मान देते हैं, यदि मैं सामायिक नहीं करूँ तो लोग कहेंगे कि यह इतना भी नहीं करता, इससे मेरी निन्दा होगी यह 'भय दोष' है।

६ निदानदोष—सामायिक करके उसके फलस्वरूप धन, स्त्री, पुत्रादिकी प्राप्तिकी इच्छा सो 'निदानदोष' है।

७ संशयदोष—सामायिकका परिणाम होगा या नहीं? ऐसा विकल्प करना सो 'संशयदोष' है।

८ कषायदोष—क्रोधादिसे सामायिक करने बैठ जाय अथवा किसी कारणसे फिर क्रोध, मान, माया या लोभमें वृत्ति करे सो 'कषायदोष' है।

९ अविनयदोष—विनय रहित सामायिक करे सो 'अविनयदोष' है।

१० अबहुमानदोष—भक्तिभाव और उमंगपूर्वक सामायिक न करे सो 'अबहुमानदोष' है।

शिक्षापाठ ३८ : सामायिकविचार—भाग २

मनके दस दोष कहे, अब वचनके दस दोष कहता हूँ।

१ कुबोलदोष—सामायिकमें कुवचन बोलना सो 'कुबोलदोष' है।

२ सहसात्कारदोष—सामायिकमें सहसा अविचारपूर्वक वाक्य बोलना सो 'सहसात्कारदोष' है।

३ असदारोपणदोष—दूसरोंको खोटा उपदेश देना सो 'असदारोपणदोष' है।

४ निरपेक्षदोष—सामायिकमें शास्त्रकी अपेक्षा बिना वाक्य बोलना सो 'निरपेक्षदोष' है।

वहाँ बैठे हुए जोव-जतुओ आदिका नाश हो और अपनेको प्रमाद उत्पन्न हो सो 'आलवनदोप' है।

६ आकुचन-प्रसारणदोष—हाथ-पैरका सिकोडना, लम्बा करना आदि 'आकुचनप्रसारणदोप' है।

७ आलसदोष—अगका मरोडना, उँगलियोको चटकाना आदि सो 'आलसदोप' है।

८ मोटनदोष—अगुली वगैरहका टेढी करना, उँगलियोका चटकाना सो 'मोटनदोप' है।

९ मलदोष—घसड-घसड कर सामायिकमे खुजाकर मैल झाडे सो 'मलदोप' है।

१० विमासणदोष—गलेमे हाथ डालकर बैठे इत्यादि सो सो 'विमासणदोप' है।

११ निद्रादोष—सामायिकमे नीद आना सो 'निद्रादोप' है।

१२ वस्त्रसकोचन दोष—सामायिकमे ठण्ड प्रमुखके भयसे वस्त्रसे शरीरका सिकोडना सो 'वस्त्रसकोचन दोप' है।

इन बत्तीस दोपोंसे रहित सामायिक करनी, और पाँच अतिचार टालने।

शिक्षापाठ ३९ सामायिकविचार—भाग ३

एकाग्रता और सावधानीके बिना इन बत्तीसदोपोमेंसे कोई न कोई दोप लग जाता है। विज्ञानवेत्ताओने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घडीका बाँधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेमे परमशाति देता है। कितने ही लोगोंका जब यह दो घडीका समय नही बीतता तब वे बहुत ऊब जाते हैं। सामायिकमें निठल्ले होकर बैठनेसे समय व्यतीत भी कैसे हो? आधुनिक समयमे साव-धानीपूर्वक सामायिक करनेवाले बहुत ही कम लोग हैं। जब सामा-

तरंगोंमें तू गिर पड़ा। इस प्रकार एक उपाधिसे इस संसारमें अनंत उपाधियाँ सहन करनी पड़ती हैं, इसलिए इसका त्याग करना उचित है। सत्य संतोष जैसा निरुपाधि सुख एक भी नहीं है। इस प्रकार विचार करते-करते तृष्णाको शांत करनेसे उस कपिलके अनेक आवरण क्षय हो गये। उसका अंतःकरण प्रफुल्लित और अत्यंत विवेकशील हो गया। विवेक ही विवेकमें उत्तम ज्ञानके द्वारा वह अपने आत्माका विचार कर सका और अपूर्व श्रेणीपर चढ़कर केवलज्ञानको प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है।

अहो! तृष्णा कैसी कनिष्ठ वस्तु है। ज्ञानीजन कहते हैं कि—तृष्णा आकाशके समान अनंत है। वह निरंतर नवयौवना बनी रहती है। जितना इच्छित मिल जाता है वह और अधिक इच्छाको बढ़ा देता है। इसलिए संतोष ही कल्पवृक्ष है; और यही मात्र मनोवांछाको पूर्ण करता है।

शिक्षापाठ ४९ : तृष्णाकी विचित्रता

मनहर छंद

(एक गरीबकी बढ़ती हुई तृष्णा)

हती दीनताई त्यारे ताकी पटेलाई अने,
मळी पटेलाई त्यारे ताकी छे शेठाईने;
सांपडी शेठाई त्यारे ताकी मंत्रिताई अने,
आवी मंत्रिताई त्यारे ताकी नृपताईने।
मळी नृपताई त्यारे ताकी देवताई अने,
दीठी देवताई त्यारे ताकी शंकराईने;
अहो! राजचंद्र मानो मानो शंकराई मळी;
वधे तृष्णाई तोय जाय न मराईने।

[२]

करोचली पडी दाढी डाचां तणो दाट वळ्यो,

यदि कुछ भी साहित्य न हो तो पचपरमेष्ठी-मत्रका जाप ही उत्साह-पूर्वक करना चाहिए। परन्तु कालको वृथा नही गँवाना चाहिए। धैर्यसे, शातिसे और यत्नाचारसे सामायिक करना चाहिए। जैसे बने वैसे सामायिकमे शास्त्र-परिचय वढाना चाहिए।

साठ घडीके समयमेंसे दो घडी अवश्य वचाकर सद्भावपूर्वक सामायिक तो करना चाहिए।

शिक्षापाठ ४० प्रतिक्रमणविचार

प्रतिक्रमणका अर्थ है सम्मुख जाना—स्मरण कर जाना—पुन देख जाना—इस प्रकार इसका अर्थ हो सकता है। जिस[1] दिन और जिस समय प्रतिक्रमण करनेके लिए बैठे उस समयके पूर्व उस दिन, जो जो दोष हुए हो उन्हे एकके वाद एक देख लेना चाहिए और उसका पश्चात्ताप करना अथवा दोषका स्मरण कर जाना इत्यादि सामान्य अर्थ भी होता है।

उत्तम मुनि और भाविक श्रावक दिनमें हुए दोषोका सध्या-कालमें और रात्रिमे हुए दोषोका रात्रिके पिछले भागमे अनुक्रमसे पश्चाताप करते हैं अथवा उनकी क्षमा माँगते है, इसीका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण हमे भी अवश्य करना चाहिए, क्योकि आत्मा मन वचन और कायके योगसे अनेक प्रकारके कर्म वाँधता है। प्रतिक्रमणसूत्रमे इसका दोहन किया गया है, जिससे दिन-रातमें हुए पापोका पश्चात्ताप उसके द्वारा हो सकता है। शुद्ध भावके द्वारा पश्चात्ताप करनेसे लेश पाप होने पर परलोकभय

---

१ द्वि० आ० पाठा०—भावकी अपेक्षासे जिस दिन जिस समय प्रति-क्रमण करना हो उस समयसे पूर्व अथवा उस दिन जो जो दोष हुये हो उन्हें एकके वाद एक अतरात्मभावसे देख लेना और उसका पश्चात्ताप करके दोषोसे पीछे हटना सो प्रतिक्रमण है।

जिस समय गरीवी थी उस समय जमींदारी पानेकी इच्छा हुई। जब जमींदारी मिली तो सेठ होनेकी इच्छा हुई, जब सेठाई प्राप्त हो गई तो मंत्री होनेकी इच्छा हुई, जब मंत्री हुआ तो राजा बननेकी इच्छा हुई। जब राज्य मिला, तो देव बननेकी इच्छा हुई। जब देव हुआ तो महादेव होनेकी इच्छा हुई। अहो! राजचन्द्र! वह यदि महादेव भी हो जाय तो भी तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है; मरती नही ऐसा मानो॥ १॥

मुँह पर झुर्रियाँ पड़ गई, गाल पिचक गये, काली केशकी मागें सफेद पड़ गई, सूंघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ जाती रहीं, और दाँतोंकी पंक्तियाँ खिर गई अथवा सड़ गई, कमर टेढ़ी हो गई, हाड़ माँस सव सूख गये, शरीरका रंग उड़ गया, उठने वैठनेकी शक्ति जाती रही, और चलने फिरनेमें लकड़ी लेनी पड़ गई। अरे राजचन्द्र! इस तरह युवावस्थासे हाथ धो वैठे, परन्तु फिरभी मनसे यह रांड ममता नहीं मरी॥ २॥

करोड़ोंके कर्जका सिरपर डंका बज रहा है, शरीर सूखकर रोगसे रुँध गया है। राजा भी पीड़ा देनेके लिये मौका तक रहा है और पेट भी पूरी तरहसे नहीं भरा जाता। उसीपर माता-पिता और स्त्री अनेक प्रकारकी उपाधि मचा रहे है। अरे रायचन्द्र। तो भी यह जीव उधेड़वुन किया ही करता है, परन्तु इससे तृष्णाको त्यागकर जंजाल नहीं छोड़ा जाता॥ ३॥

नाड़ी क्षीण पड़ गई, अवाचककी भाँति पड़ रहा, और जीवन-दीपक निस्तेज पड़ गया; इसे अंतिम अवस्थामें पड़ा देखकर भाईने कहा, कि अब इस बेचारेकी मिट्टी ठंडी हो जाय तो ठीक है; इतनेपर उस बुड्ढेने खीझकर हाथको हिलाकर इशारेसे कहा, कि हे मूर्ख! चुप रह, तेरी चतुराईको चूल्हेमें डाल। अरे रायचन्द्र!

भूख लगी, वह वेचारा लडखडाता हुआ एक नगरमे एक सामान्य मनुष्य के घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारसे गिडगिडाहट की। उसकी अत्यन्त दीनता-भरी प्रार्थना पर करुणा करके उस गृहस्थ की स्त्रीने घरमे जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न लाकर दिया। भोजनके मिलनेसे भिखारी बहुत आनदित होता हुआ नगरके बाहर आया, और एक वृक्षके नीचे बैठ गया। वहाँ जरा साफ करके उसने एक ओर बहुत पुराना अपना पानीका घडा रख दिया, एक ओर अपनी फटी पुरानी मैली गूदडी रक्खी और एक ओर वह स्वय उस भोजन को लेकर बैठा। खुशी-खुशी होते हुए उसने वह भोजन खाकर पूरा किया। तत्पश्चात् सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे थोडी ही देरमे उसकी आँखें मिच गईं। वह निद्राके वश हुआ कि इतनेमे उसे एक स्वप्न आया। वह स्वय मानो महाऋद्धिको पाया है, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हैं, समस्त देशमे उसकी विजयका डका बज गया है, समीपमे उसकी आज्ञा उठानेके लिये अनुचर लोग खडे हुए हैं, आसपासमे छडीदार क्षेम-क्षेम पुकार रहे हैं, एक रमणीय महलमे सुन्दर पलग पर वह लेटा हुआ है, देवागना जैसी स्त्रियाँ उसके पैर दबा रही हैं, एक ओरसे पखेकी मद-मद पवन ढुल रही है, ऐसे स्वप्नमे उसका आत्मा तन्मय हो गया। उस स्वप्नके भोग लेते हुए उसके रोम उल्लसित हो गए। इतनेमे मेघ महाराजा चढ आये, बिजली चमकने लगी, सूर्यदेव बादलोंसे ढक गया; सर्वत्र अधकार फैल गया, ऐसा मालूम हुआ कि मूसलाधार वर्षा होगी और इतनेमे बिजलीकी गर्जनासे एक जोरका कडाका हुआ। कडाकेकी आवाजसे भयभीत होकर वह बेचारा पामर भिखारी जाग उठा।

शिक्षापाठ ४२ भिखारीका खेद—भाग-२

तब फिर वह देखता क्या है कि जिस स्थान पर पानीका फूटा

ज्ञानियोंने इसे अनंत खेदमय, अनंत दुःखमय, अव्यवस्थित, अस्थिर और अनित्य कहा है। ऐसा लगता है किये विशेषण लगानेसे पूर्व उन्होने संसारके संबंधमें सम्पूर्ण विचार किया था। अनंतभवका पर्यटन, अनंतकालका अज्ञान, अनंतजीवनका व्याघात, अनंतमरण और अनंतशोकको लेकर आत्मा संसार-चक्रमें भ्रमण किया करता है। संसारकी दिखाई देनेवाली इन्द्रायनके समान सुन्दर मोहिनीने आत्माको सम्पूर्ण लवलीन कर डाला है। आत्माको इसके समान सुख अन्यत्र कही भी भासित नहीं होता। मोहिनीके कारण सत्यसुख और उसके स्वरूपको देखनेकी आकांक्षा भी इसने नहीं की है। जैसे पतंगेको दीपकके प्रति मोहिनी होती है उसी प्रकार आत्माकी संसारके प्रति मोहिनी पायी जाती है। ज्ञानीजन इस संसारको क्षणभरके लिए भी सुखरूप नहीं मानते। संसारका एक तिलभर भी स्थान निर्विष नही रह गया है। एक सुअरसे लेकर चक्रवर्ती तक भावकी अपेक्षा समानता है। अर्थात् एक चक्रवर्तीकी संसारके संबंधमें जितनी मोहिनी है उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सुअरके पाई जाती है। जैसे चक्रवर्ती सम्पूर्ण प्रजापर अधिकार भोगता है उसीप्रकार वह उसकी उपाधिको भी भोगता है। सुअरको इसमेंसे कुछ भी नही भोगना पड़ता। उसमें अधिकारकी अपेक्षा उलटी उपाधि विशेष है।

चक्रवर्तीको अपनी पत्नीके प्रति जितना प्रेम होता है उतना ही अथवा उससे भी अधिक सुअरको अपनी सुअरनीके प्रति प्रेम होता है। चक्रवर्ती भोगमें जितना रस लेता है, सुअर भी उतना ही रस माने हुये है। चक्रवर्तीके जितनी वैभवकी वहुलता है उतनी ही उपाधि भी है। सुअरको उसके वैभवके अनुपातमें उपाधि पायी जाती है। दोनों ही उत्पन्न हुए है और दोनोंको ही मरना है। इस प्रकार अतिसूक्ष्म विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों ही

(उपजाति)

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतग,
आयुष्य ते तो जळना तरग,
पुरदरी चाप अनगरग,
शु राचिये त्या क्षणनो प्रसग ?

विशेषार्थ—लक्ष्मी विजलीके समान है। जैसे विजलीकी चमक उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, उमी तरह लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतगके रग समान है। जैसे पतगका रग चार दिनकी चाँदनी है, वैसे ही अधिकार केवल थोडे काल तक रहकर हाथमेंसे चला जाता है। आयुष्य पानीकी लहरोंके समान हे। जैमे पानीकी हिलोरे इधर आई कि उधर गई। इसी तरह जन्म पाया और एक देहमे रहने पाया न पाया कि इतने-हीमे इसे दूसरे देहमे जाना पडता है। काम-भोग आकाशमे उत्पन्न हुए इन्द्रधनुपके समान है, जैमे इन्द्रधनुप वर्पाकालमे उत्पन्न होकर क्षण भरमे विलीन हो जाता है, उसी तरह यौवनमे कामके विकार फलीभूत होकर जरावयमे नष्ट हो जाते हैं। सक्षेपमे, हे जीव ! इन ममस्त वस्तुओका सवध क्षण भरका है। इसमे प्रेम-वधनकी सॉकलसे वँधकर मग्न क्या होना ? तात्पर्य यह कि ये सब चपल और विनाशीक है, तू अखड और अविनाशी हे, इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर ! यह बोध यथार्थ है।

शिक्षापाठ ४३ अनुपम क्षमा

क्षमा, अतर्शत्रुको जीतनेका खड्ग है, और पवित्र आचारकी रक्षाका वख्तर है। शुद्धभावसे असह्य दु खमे समपरिणामपूर्वक क्षमा रखनेवाला मनुष्य भव-सागरसे पार हो जाता है।

कृष्ण वासुदेवके गजसुकुमार नामक छोटे भाई महास्वरूपवान और सुकुमार मात्र बारह वर्पकी आयुमे भगवान नेमिनाथके निकट ससारत्यागी होकर स्मशान-भूमिमे उग्रध्यानमे लवलीन थे, तव

अपने आत्माको सार्थक करनेके लिए मतभेदमें नही पड़ना चाहिए। उत्तम और शांत मुनियोंका समागम, निर्मल आचार, विवेक, दया, क्षमा आदिका सेवन करना चाहिए : यदि हो सके तो महावीरके तीर्थके लिए विवेकपूर्ण उपदेश भी कारण सहित देना चाहिए। हमें तुच्छ वुद्धिसे शंकित नहीं होना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इसीमें अपना परम मंगल है।

शिक्षापाठ ५४ : अशुचि किसे कहना चाहिए ?

जिज्ञासु—मुझे जैन मुनियोंके आचारकी वात वहुत रुचिकर हुई है। इन जैसा आचार अन्य किसी दर्शनके संतोंमें नही दिखाई देता। चाहे जैसी शीत ऋतु की ठंड हो, फिर भी उन्हें अमुक अल्प वस्त्रसे ही निर्वाह करना पड़ता है। ग्रीष्म ऋतुमें चाहे जितनी गर्मी हो फिर भी वे अपने पैरमें जूते नहीं पहनते हैं और शिर पर छाता भी नहीं लगाते। उन्हें गर्म रेतमें आतापना लेनी पड़ती है। वे जीवन भर गर्म पानी पीते है। वे किसी गृहस्थके घर नही वैठ सकते। वे शुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करते है। वे अपने पास फूटी कौड़ी भी नहीं रखते। वे किसीके प्रति अयोग्य वचन नहीं वोलते। और किसी भी प्रकारके वाहनका उपयोग नहीं करते। सचमुच ही ऐसा पवित्र आचार ही मोक्षदायक है। किन्तु मेरी समझमें यह वात नहीं जम रही है कि भगवान्ने नव वाड़में स्नान करनेका निषेध क्यों किया है ?

सत्य—यह वात वुद्धिमें क्यों नही जम रही है ?

जिज्ञासु—क्योकि स्नान न करनेसे अशुचि वढ़ती है।

सत्य—कौन सी अशुचि वढ़ती है ?

जिज्ञासु—शरीर मलिन रहता है वह।

सत्य—भाई ! शरीरकी मलिनताको अशुचि कहना कोई वुद्धि-

शिक्षापाठ ४४ राग

श्रमण भगवान महावीरके मुख्य गणधर गौतमका नाम अनेक बार पढा है। गौतमस्वामीके द्वारा प्रबोधित कितने ही शिष्य केवलज्ञानको प्राप्त हो गए, परन्तु स्वय गौतमको केवलज्ञान प्राप्त नही होता था, क्योकि गौतमको भगवान महावीरके अगोपाग, वर्ण, वाणी, रूप इत्यादि पर अभी भी मोह विद्यमान था। निर्ग्रंथ प्रवचनका निष्पक्षपाती न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दु खदायक है। राग ही मोहिनी और मोहिनी ही ससार है। जबतक गौतमके हृदयसे यह राग दूर नही हुआ तब तक उन्हे केवलज्ञान प्राप्त नही हुआ। श्रमण भगवान ज्ञातपुत्र जब अनुपमेय सिद्धिको प्राप्त हुए तब गौतम नगरमेसे आ रहे थे। भगवानके निर्वाणका समाचार सुनकर उन्हे खेद हुआ और वे विरहमे अनुराग वचनसे बोले —"हे महावीर! आपने मुझे अपने साथ तो नही लिया परन्तु मेरी याद तक नही की। मेरी प्रीतिके सम्मुख आपने दृष्टि भी नही की! आपको ऐसा उचित न था।" ऐसे विचार करते-करते उनका लक्ष बदला और वे विराग-श्रेणी पर आरूढ हुए। "मैं बडी मूर्खता कर रहा हूँ। वे वीतराग निर्विकारी और निरागी भला मुझपर मोह कैसे रख सकते हैं? शत्रु और मित्रपर उनकी केवल समान दृष्टि थी। मै उन निरागीका मिथ्या-मोह करता हूँ, मोह ससारका प्रबल कारण है।" इस प्रकार *विचारते-विचारते वे शोकका त्याग करके निरागी हुए।* तब उन्हे अनन्तज्ञान प्रकाशित हुआ, और अन्तमे निर्वाणको प्राप्त हुए।

गौतम मुनिका राग हमे बहुत सूक्ष्मबोध देता है। भगवानके ऊपरका मोह गौतम जैसे गणधरको भी दु खदायक हुआ तो फिर ससारका और वह भी पामर आत्माओका मोह कैसा अनत दु ख देता होगा! ससाररूपी गाडीके राग और द्वेषरूपी दो बैल हैं।

को विशुद्ध करना चाहिए। पाप-व्यापारकी वृत्तिको रोक कर रात्रि-सम्बन्धी हुए दोषोंका उपयोगपूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिए। और फिर उसके बाद यथावसर भगवान्की उपासना, स्तुति तथा स्वाध्यायके द्वारा मनको उज्वल करना चाहिए।

माता-पिताकी विनय करके, आत्महितका लक्ष्य भूले विना यत्नाचारपूर्वक सांसारिक काममें प्रवृत्ति करना चाहिए।

स्वयं भोजन करनेसे पूर्व सत्पात्रको दान देनेकी परम आतुरता-पूर्वक वैसा सुयोग प्राप्त होने पर यथोचित प्रवृत्ति करना चाहिए।

आहार-विहारका नियमित समय रखना चाहिए, तथा सत् शास्त्रोंके अभ्यासका और तात्त्विक ग्रन्थोंके मननका भी नियमित समय रखना चाहिए।

सायंकालमें उपयोगपूर्वक संध्यावश्यक करना चाहिए।

चौविहार-प्रत्याख्यान करना चाहिए।

नियमित निद्रा लेनी चाहिए।

सोनेसे पूर्व १८ पापस्थानक, १२ व्रत-दोष और समस्त जीवोंको क्षमा कर पंचपरमेष्ठी मंत्र (पंच नमस्कार मंत्र) का स्मरण करके महान् शान्तिपूर्वक समाधिभावसे शयन करना चाहिए।

यह सामान्य नियम अति लाभदायक सिद्ध होंगे। यहाँ इन्हें संक्षेपमें कहा है। इन पर सूक्ष्म विचार करनेसे और तदनुसार प्रवृत्ति करनेसे यह विशेष मंगलदायक होंगे।

शिक्षापाठ ५६ : क्षमापना

हे भगवन् ! मैं वहुत भूल गया, मैने आपके अमूल्य वचनों पर ध्यान नहीं दिया, आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वका मैने विचार नहीं किया, आपके द्वारा प्रणीत उत्तम शीलका सेवन नही किया,

लघुकर्मी जीव होनेसे कपिलको सासारिक प्रपचकी कोई विशेप जानकारी नही थी। इसलिए उस बेचारेको यह भी पता नही था कि पैसा कैसे पैदा किया जाय। उस चचला स्त्रीने उसे मार्ग वताया कि घबरानेमे कुछ नही बनेगा, किंतु उपायमे ही सिद्धि है। इस गाँवके राजाका ऐसा नियम है कि प्रात काल सर्वप्रथम जाकर जो ब्राह्मण उसे आशीर्वाद दे उसे वह दो मागा सोना देता है। यदि तुम वहाँ जा सको और प्रथम आशीर्वाद दे सको तो वह दो माशा सोना मिले। कपिलने यह बात स्वीकार की। उसने आठ दिन तक बराबर धक्के खाये किंतु समय बीत जाने पर पहुँचनेसे उसे कुछ सफलता न मिलती थी। इसलिए उसने एक दिन निश्चय किया कि यदि मै चौकमे सो जाऊँ तो चिंता रखकर उठा जायगा। फिर वह चौकमे सोया। आधीरात बीतने पर चन्द्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप समझकर मुट्ठी बाँधकर आशीर्वाद देनेके लिए दौडते हुए जाने लगा किंतु रक्षपालने उसे चोर समझकर पकड लिया। और इस प्रकार उसे लेनेके देने पड गये। प्रभात होने पर रक्षपालने उसे ले जाकर राजाके समक्ष खडा किया। कपिल बेसुध-सा खडा रहा, राजाको उसमे चोरके लक्षण दिखाई नही दिये इसलिए राजाने उससे सारा वृत्तान्त पूछा। चद्रके प्रकाशको सूयके समान माननेवाले उस व्यक्तिके भोलेपन पर राजाको दया आ गई। उसकी दरिद्रता दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई इसलिए कपिलसे कहा तुझे आशीर्वाद देनेके लिए जब इतनी बडी झझट खडी हो गई तो अब तूँ अपनी इच्छानुसार जो चाहिए सो माँग ले, मैं तुझे दूँगा। यह सुनकर कपिल थोडी देर मूढ-जैसा बना रहा। तब राजा ने कहा क्यो विप्र! कुछ माँगते नही? कपिलने उत्तर दिया कि मेरा मन अभी स्थिर नही हुआ है, इसलिए यह नही सूझता कि क्या माँगूं। राजाने कपिलसे सामनेके बागमे जाकर बैठने और वहाँ

हो गई है। यदि हम उस मलिनताको विषय-वासना अथवा श्रृंगारसे दूर करना चाहे तो वह दूर नहीं की जा सकती। जैसे रक्तसे रक्त नहीं धोया जा सकता उसी प्रकार श्रृंगारसे विषयजन्य आत्म-मलिनता दूर नहीं की जा सकती यह बिल्कुल निश्चित बात है। इस जगत्‌में अनेक धर्ममत प्रचलित हैं, उस सम्बन्धमें निष्पक्ष होकर विचार करनेमें पहले इतना विचार करना आवश्यक है कि जहाँ स्त्रियोंका भोग करनेका उपदेश दिया गया हो, लक्ष्मी-लीलाकी शिक्षा दी गई हो, राग-रंग, मस्ती, और ऐशो-आराम करनेका तत्त्व बताया गया हो वहाँसे अपने आत्माको सत् शान्ति नही मिल सकती। क्योंकि यदि इसे धर्ममत माना जाय तो सम्पूर्ण संसार ही धर्म-मत युक्त हो जायेगा। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनासे परिपूर्ण होता है। बाल-बच्चे, स्त्री, रागरंग और गान-तान वहाँ जमा रहता है। और यदि ऐसे घरको धर्म-मन्दिर कहा जाय तो फिर अधर्म स्थान कौन सा कहलायेगा? और फिर ऐसी स्थितिमें हम जैसा बरताव कर रहे हैं वैसा बरताव करनेसे बुरा भी क्या है? यदि कोई कहे कि उस धर्म-मन्दिरमें तो प्रभुकी भक्ति हो सकती है, तो उसे खेदपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वह परम तत्त्व और उसकी वैराग्यमय भक्तिको नहीं जानता। चाहे जो हो किन्तु हमें अपने मूल विचार पर आना चाहिए। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे आत्मा संसारमें विषयादिकी मलिनतासे पर्यटन करता है। उस मलिनताका क्षय विशुद्ध भावजलसे होना चाहिए। अर्हन्तके द्वारा कहे हुए तत्त्वरूपी साबुन और वैराग्यरूपी जलसे उत्तम आचार-रूपी पत्थर पर रख कर आत्मारूपी वस्त्रको धोनेवाले निर्ग्रन्थ गुरू होते हैं। यदि इसमें वैराग्यरूपी जल नही तो अन्य समस्त सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती इसलिए वैराग्यको धर्मका स्वरूप कहा जा सकता है। यदि अर्हन्तके द्वारा प्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही उपदेश करते हैं तो उसीको धर्मका स्वरूप समझना चाहिए।

भले आदमी। ऐसी कृतघ्नता क्यो करनी चाहिए कि जो अपनेको इच्छानुसार देनेको तत्पर है उसीका राज्य ले लिया जाय और उसीको भ्रष्ट कर दिया जाय? सच पूछा जाय तो इसमे अपनी ही भ्रष्टता है। इसलिए आधा राज्य माँगना चाहिए, किन्तु मुझे यह उपाधि भी नही चाहिए। फिर पैसेकी उपाधि भी कहाँ कम है? इसलिये करोड और लाख छोडकर सौ-दो सौ मोहरें ही माँग लेनी चाहिए। हे जीव! यदि अभीसे दोसौ मोहरे मिल गई तो फिर विषय-वैभवमे ही समय चला जायगा। और विद्याभ्यास एक ओर रखा रह जायेगा, इसलिये अभी तो पाँच मोहरे ही ले लेनी चाहिए, फिर वादकी वात वादमे। अरे! पाँच मोहरोकी भी अभी कुछ आवश्यकता नही, मैं तो मात्र दो माशा सोना लेनेके लिए आया था, सो वही माग लेना चाहिए। हे जीव! यह तो बहुत हुआ। तृष्णा समुद्रमे तूने बहुत गोते खाये। सपूर्ण राज्य मागने पर भी जो तृष्णा नही बुझ रही थी, उसे मात्र सतोष और विवेकसे घटायी तो घट गई। यदि यह राजा चक्रवर्ती होता तो फिर मैं इससे अधिक क्या माग सकता था? और जब तक विशेष प्राप्त नही होता तब तक मेरी तृष्णा भी शात नही होती, और जब तक तृष्णा शात नही होती तब तक मैं सुखी भी न होता। यदि इतनेसे भी मेरी तृष्णा शात नही होती तो फिर दो माशेसे तो कैसे टलने वाली है?

इस प्रकार उसका आत्मा ठिकाने आया और वह बोला कि अब मुझे दो माशे सोनेका भी कोई काम नही है, मैं दो माशेसे बढते-बढते किस हद तक पहुँच गया! सचमुच सुख तो सतोषमे ही है और तृष्णा ससार-वृक्षका बीज है। हे जीव! इसमे तुझे क्या प्रयोजन है? विद्या ग्रहण करते हुए तू विषयमे पड गया, विषयमे पडनेसे इस उपाधिमे फँस गया, उपाधिके कारण तू अनत तृष्णा-समुद्रकी

होनी चाहिए। ऐसा विचार करनेपर एक धर्म-मत सच्चा सिद्ध होता है और शेष सब झूठे ठहरते हैं।

जिज्ञासु—यह एक आश्चर्यकारक बात है। सबको असत्य अथवा सबको सत्य कैसे कहा जा सकता है? यदि सबको असत्य कहा जाय तो हम नास्तिक ठहरते हैं और धर्मकी सच्चाई जाती रहती है। इतनी बात तो निश्चित है कि धर्मकी सचाई है, और सृष्टि पर उसकी आवश्यकता है। यदि हम यह कहे कि एक धर्म-मत सत्य है और शेष सब असत्य है, तो इस बातको सिद्ध करके बतलाना चाहिए। यदि हम सभीको सत्य कहते हैं तो यह रेतकी दीवाल बनाने जैसी बात हुई क्योंकि यदि ऐसा है तो इतने सारे मतभेद कैसे हो गये और तब फिर सभी एक ही प्रकारके मत स्थापित करनेके लिये क्यों प्रयत्न न करे? यों पारस्परिक विरोधाभासके विचारसे थोड़ी देरके लिए रुक जाना पड़ता है।

फिर भी इस सम्बन्धमें मै अपनी बुद्धिके अनुसार थोड़ा स्पष्टीकरण करता हूँ। यह स्पष्टीकरण सत्य और मध्यस्थ भावनाका है, एकान्त अथवा एक मतकी दृष्टिसे नही है, पक्षपात अथवा अविवेकयुक्त नहीं है किन्तु उत्तम और विचार करने योग्य है। देखनेमें यह सामान्य मालूम होगा किन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करने पर अत्यन्त रहस्य-पूर्ण प्रतीत होगा।

शिक्षापाठ ५९ : धर्मके मतभेद—भाग २

हमें इतना तो स्पष्ट मानना ही होगा कि चाहे जो एक धर्म इस संसारमें सम्पूर्ण सत्यतासे युक्त है। अब एक दर्शनको सत्य कहने पर बाकी समस्त धर्ममतोंको केवल असत्य कहना पड़े; परन्तु मैं ऐसा नही कह सकता। शुद्ध आत्मज्ञानदाता निश्चयनयसे तो वे असत्य रूप सिद्ध होते हैं, किन्तु व्यवहारनयसे उन्हे असत्य नही कहा जा

भावनाबोध
मोक्षमाला

•

Br
COOH
3r
sent)
preparation
CHCOOH
mination)
CHCOOH
COOH

आनन्द भरे लहरी दर्शनसे भेड़ियावसान-रूप होकर और प्रसन्न होकर उनके कथनको मान्य रखा। कुछ लोगोंने नीति और यत् किंचित वैराग्य आदि गुण देखकर उनके कथनको मान्य रखा। क्योंकि प्रवर्तककी वुद्धि उनकी अपेक्षा विशेष होती है इसलिए उसे बादमें भगवान् रूप ही मान लिया। कुछ लोगोंने वैराग्यसे धर्म-मत फैलाकर बादमें कुछ सुख-शील वाले साधनोंका उपदेश ठीक दिया। अपने मतकी स्थापना करनेके भ्रमसे और अपनी अपूर्णता इत्यादि चाहे जिस कारणसे दूसरेका कहा हुआ उन्हें रुचिकर नहीं लगा इसलिए उन्होंने अपना एक अलग ही मार्ग निकाल लिया। इस प्रकार अनेक मत-मतान्तरोंका जाल फैलता चला गया। चार-पाँच पीढ़ियों तक एक का एक ही धर्मपालन किया इसलिए बादमें वह कुल-धर्म हो गया। और फिर इस प्रकार वह जगह-जगह पर होता चला गया।

शिक्षापाठ ६० : धर्मके मतभेद—भाग ३

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्म-मतको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नहीं कहा जा सकता। इसलिए जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है उसके तत्त्व प्रमाणसे अन्य मतोंकी अपूर्णता और एकान्तिकता देखनी चाहिए।

इन दूसरे धर्म-मतोंमें तत्त्वज्ञानसम्बन्धी यथार्थ सूक्ष्म विचार नहीं है। कितने ही जगत्कर्ताका उपदेश देते हैं, किन्तु जगत्कर्ता प्रमाणके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। कुछ लोग यह कहते हैं कि ज्ञानसे मोक्ष होता है किन्तु वे एकान्तिक हैं; इसी प्रकार ऐसा कहने वाले भी एकान्तिक है कि क्रियासे मोक्ष होता है। जो यह कहते हैं कि ज्ञान और क्रियासे मोक्ष है वे उसके यथार्थस्वरूपको नहीं जानते और वे दोनोंके भेदको श्रेणीबद्ध नहीं कह सके। यही इनकी सर्वज्ञताकी कमी दिखाई दे जाती है। सत्देवतत्त्वमें कहे गये

काळी केशपटी विषे श्वेतता छवाई गई,
सूंघवु, साभळवु, ने देखवु ते माडी वाळ्यु,
तेम दात आवली ते, खरी के खवाई गई।
वळी केड वाकी, हाड गया, अगरग गयो,
ऊठवानो आय जता लाकडी लेवाई गई,
अरे! राजचद्र एम, युवानी हराई पण,
मनथी न तोय राड ममता मराई गई।

[३]

करोडोना करजना शिर पर डका वागे,
रोगथी रुधाई गयु, शरीर सुकाईने,
पुरपति पण माथे, पोडवाने ताकी रह्यो,
पेट तणी वेठ पण, शके न पुराईने।
पितृ अने परणी ते, मचावे अनेक धघ,
पुत्र, पुत्री भाखे खाउं खाउं दु खदाईने,
अरे! राजचद्र तोय जीव झावा दावा करे,
जजाळ छंडाय नहीं, तजी तृपनाईने।

[४]

थई क्षीण नाडी अवाचक जेवो रह्यो पडी,
जीवन दीपक पाम्यो केवळ झखाईने,
छेल्ली ईसे पड्यो भाळी भाईए त्या एम भाख्यु,
हवे टाढी माटी थाय तो तो ठीक भाईने।
हाथने हलावी त्या तो खीजी बुढ्ढे सूचव्यु ए,
बोल्या विना बेस बाळ तारी चतुराईने!
अरे! राजचद्र देखो देखो आशापाश केवो?
जता गई नहीं डोशे ममता मराईने!

कुशलता पूछी और उसके लिए भोजनकी व्यवस्था कराई। थोड़ी देरके वाद सेठने धीरजके साथ ब्राह्मणसे पूछा कि यदि आपको अपने आगमनका कारण मुझे कहनेमें कोई आपत्ति न हो तो कहिए। ब्राह्मणने कहा कि अभी आप क्षमा कीजिए, पहले आपको अपना समस्त प्रकारका वैभव, भवन, वाग-वगीचा इत्यादि मुझे दिखाने होंगे। उन्हे देखनेके वाद मैं अपने आगमनका कारण वतलाऊँगा। सेठने इसका कोई मर्मरूप कारण जानकर कहा कि भले ही आप आनन्दपूर्वक अपनी इच्छानुसार करे। भोजनके वाद ब्राह्मणने सेठको अपने साथ चलकर धामादि वतलानेकी प्रार्थना की। सेठने उसकी वातको मान लिया और स्वयं उसके साथ जाकर वाग-वगीचा, भवन और वैभव यह सव दिखाया। ब्राह्मणको सेठकी स्त्री और पुत्र भी वहाँ दिखाई दिए। उन्होने योग्यता अनुसार उस ब्राह्मणका आदर-सत्कार किया। उनके रूप, विनय, स्वच्छता और मधुर वाणी को सुनकर वह ब्राह्मण वहुत सन्तुष्ट हुआ। उसके वाद उसने धनिककी दुकानका कारोवार देखा और वहाँ लगभग सौ कार्यकर्ताओंको वहाँ वैठा हुआ देखा। ब्राह्मणको वे भी स्नेही, विनयी और नम्र मालूम हुए, इससे वह वहुत सन्तुष्ट हुआ। और उसका मन वहाँ कुछ तृप्त हुआ। और उसे ऐसा लगा कि इस संसारमें सुखी तो यही मालूम होता है।

शिक्षापाठ ६२ : सुखके सम्बन्धमें विचार—भाग २

वह ब्राह्मण विचार करने लगा कि इसके कैसे सुन्दर भवन है, इनकी स्वच्छता और व्यवस्था कैसी सुन्दर है, इसकी कैसी चतुर मनोज्ञ और सुशील स्त्री है, उसके कैसे कान्तिमान और आज्ञाकारी पुत्र है, इसका कैसा हिलमिलकर रहनेवाला कुटुम्ब है, इसके यहाँ लक्ष्मीकी कैसी कृपा है, समस्त भारतमें इस जैसा दूसरा कोई सुखी नही है। अव तपस्या करके यदि मै कुछ माँगूँगा तो इस धनिक

देखो देखो, यह आशाका पाश कैसा है ? मरते मरते भी वुड्ढेकी ममता नही मरी ।।४।।

शिक्षापाठ ५० प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य और कषाय यह सब प्रमादके लक्षण है।

भगवान्ने उत्तराध्ययन सूत्रमे गौतमसे कहा है कि—हे गौतम ! मनुष्यकी आयु कुशकी नोकपर पडी हुई जलकी बूँदके समान है। जैसे उस बूँदके खिर जानेमे देर नही लगती वैसे ही यह मनुष्य-आयु जानेमे देर नही लगती। इस उपदेशकी गाथाकी चौथी पक्ति स्मरणमे अवश्य रखनी चाहिए कि 'समय गोयम मा पमाए'। इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि हे गौतम, समय अर्थात् अवसरको पाकर प्रमाद नही करना चाहिए। और दूसरा यह कि प्रतिक्षण व्यतीत होते हुए कालके असख्यातवें भाग अर्थात् एक समय मात्रका भी प्रमाद नही करना चाहिए। क्योकि देह क्षणभगुर है। कालरूपी शिकारी सिरपर धनुप-बाण चढाकर तैयार खडा है। अव केवल यही दुविधा हो रही है कि उसने शिकारको लिया अथवा ले लेगा। वहाँ प्रमाद करनेमे धर्म-कर्तव्यका करना रह जायगा।

अति विचक्षण पुरुप ससारकी सर्वोपाधिका त्याग करके दिन-रात धर्ममे सावधान रहते हैं और पलभर भी प्रमाद नही करते हैं। विचक्षण पुरुप अहोरात्रिके थोडे भागको भी निरतर धर्म-कर्तव्यमे व्यतीत करते हैं, और यथाअवसर धर्मकर्तव्य करते रहते हैं। किंतु मूढपुरुप निद्रा, आहार, मौजशौक और विकथा एव रग-रागमे आयु व्यतीत कर डालते हैं। इसका परिणाम वे अधो-गतिके रूपमे प्राप्त करते हैं।

जैसे बने वैसे यत्न और उपयोगसे धर्मको साध्य बनाना उचित है। साठ घडीकी दिनरात्रिमे हम बीस घडी तो निद्रामे व्यतीत कर

विप्रने कहा—आपका यह कथन अनुभवसिद्ध और मार्मिक होगा। मैंने अनेक शास्त्र देखे हैं, फिर भी ऐसे मर्म-भरे विचार ध्यानमें लेनेका मैंने परिश्रम ही नही किया और मुझे ऐसा अनुभव सबके लिए होकर भी नही हुआ। अब आप मुझे यह बतलाइये कि आपको क्या दुःख है ?

धनाढ्यने कहा—पंडितजी ! आपकी इच्छा है तो मैं कहता हूँ। वह ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है और इस परसे कोई मार्ग प्राप्त किया जा सकता है।

शिक्षापाठ ६३ : सुखके सम्बन्धमें विचार—भाग ३

आप जैसी स्थिति इस समय मेरी देख रहे हैं वैसी स्थिति लक्ष्मी, कुटुम्ब और स्त्रीके सम्बन्धमें पहले भी थी। मैं जिस समयकी बात कह रहा हूँ उस समयको लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं। व्यापार और वैभवकी बहुलता आदि समस्त कारोबार उल्टा होनेसे घटने लगा। करोड़पति कहलाता था वह मैं एकके बाद एक हानिका भार वहन करनेसे मात्र तीन वर्षमें ही लक्ष्मी-हीन हो गया। जहाँ मात्र अनुकूल समझकर दाव लगाया था वहाँ उल्टा दाव पड़ा। ऐसेमें मेरी स्त्री भी मरणको प्राप्त हुई। उस समय मेरे कोई सन्तान नही थी। बहुत बड़ी हानियोंके कारण मुझे यहाँसे निकल भागना पड़ा। यद्यपि मेरे कुटुम्बियोंने यथाशक्ति मेरी रक्षा की, किन्तु वह आकाश फटने पर थेगरा लगाने जैसी बात थी। मेरी स्थिति अन्न और दाँतके बीच बैर होने जैसी थी। इसलिए मैं बहुत आगे चला गया। जब मै वहाँसे निकला तब मेरे कुटुम्बियोने मुझे रोक रखनेका प्रयत्न किया और कहा कि तूने गाँवके बाहरका द्वार तक नहीं देखा इसलिए हम तुझे बाहर नहीं जाने देंगे। तेरा सुकोमल शरीर कुछ भी नहीं कर सकेगा, और यदि तू बाहर चला गया और वहाँ सुखी हुआ तो फिर यहाँ लौटकर भी नही आयेगा, इसलिए तुझे

क्षणिकतामे, रोगसे और जरासे ग्रसित है। चक्रवर्ती द्रव्यसे समर्थ है, महान पुण्यशाली है, सातावेदनीयको भोगता है, और बेचारा सुअर असाता वेदनीयको भोग रहा है। दोनोको असाता और साता विद्यमान है, किन्तु चक्रवर्ती महासमर्थ है। यदि वह जीवनपर्यंत मोहान्ध बना रहता है तो वह भारी बाजीको हार जानेके समान करता है। सुअरका भी यही हाल है। चक्रवर्ती श्लाघापुरुष है इसलिए सुअरकी इस रूपमे उससे कोई तुलना नही की जा सकती किंतु इस स्वरूपमे है। भोगोके भोगनेमे भी दोनो तुच्छ हैं, दोनोके शरीर मास-मज्जा आदिके हैं। ससारकी यह उत्तमोत्तम पदवी ऐसी है कि जहाँ ऐसा दु ख, क्षणिकता, तुच्छता और अन्धपना पाया जाता है तब फिर अन्यत्र सुख कैसे माना जाय ? यह सुख नही है, फिर भी यदि इसे सुख माना जाय तो वह भययुक्त और क्षणिक होनेसे दु ख ही है। अनततताप, अनतशोक और अनत दु ख देखकर ही ज्ञानियोने इस ससारसे पीठ फेर ली है, जो कि सत्य है। इस ओर फिर मुडकर देखने जैसा नही है। वहाँ दु ख दु ख और दु ख ही है। अथवा यो कहना चाहिए कि वह दु खका समुद्र है।

वैराग्य ही अनत सुखमे ले जाने वाला उत्कृष्ट मार्गदर्शक है।

शिक्षापाठ ५३ . महावीर शासन

वर्तमानमे जो शासन चल रहा है वह श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रणीत है। भगवान महावीरको मोक्ष गये हुए चौबीस सौ चौदह[1] (२४१४) वर्ष हो चुके हैं। मगध देशके क्षत्रियकुड नगरमे राजा सिद्धार्थकी रानी त्रिशलादेवी क्षत्रियाणीकी कोखसे भगवान महावीरने जन्म लिया था। भगवान महावीरके बडे भाईका नाम नन्दि-

---

१ मोक्षमाला प्रथमावृत्ति वीरसवत २४१४ अर्थात् विक्रम सवत् १९४४ में छपी थी, तब भगवान महावीरको मोक्ष गये २४१४ वर्ष हुए थे।

विना दमड़ीके जिस समय मैं जावा गया था उस समयकी स्थितिको अज्ञान दृष्टिसे देखने पर आँखोंमें आँसू ला देती है। मैंने उस समय भी धर्ममें आस्था रखी थी। मैं दिनका कुछ भाग उसमें लगाता था, वह लक्ष्मी या ऐसी किसी लालचसे नही किन्तु मेरी यह मुख्य नीति थी कि यह संसारके दुःखसे पार लगाने वाला एक साधन है तथा मैं यह मानता था कि मौतका भय क्षणभरको भी दूर नहीं है, इसलिए इस कर्तव्यको जैसे वने वैसे कर लेना चाहिए। मैंने इस तत्त्वकी ओर भी अपना लक्ष्य दिया कि दुराचारसे कहीं कोई सुख नही मिल सकता, मनकी तृप्ति नहीं हो सकती, वह मात्र आत्माकी मलिनता है।

शिक्षापाठ ६४ : सुखके सम्बन्धमें विचार—भाग ४

यहाँ आनेके वाद मुझे अच्छे घरकी अनुकूल कन्या प्राप्त हुई। और वह अच्छे लक्षण वाली तथा मर्यादाशील निकली। उससे तीन पुत्र प्राप्त हुए। मेरा कारोवार बहुत प्रवल था और पैसा पैसे-को खींचता है इस नीतिके अनुसार मैं दस वर्षमें ही एक बहुत बड़ा करोड़पति हो गया। मैंने पुत्रोंकी नीति, विचार और वुद्धिको उत्तम रखनेके लिए अनेक सुन्दर साधन जुटाये, जिससे उन्होंने यह स्थिति प्राप्त की है। मैंने अपने कुटुम्बियोंको यथायोग्य स्थानों पर जमा कर उनकी स्थितिको सुधारा। मैंने अपनी दुकानके कुछ सुनियोजित नियम बनाये और उत्तम मकान बनवाने प्रारम्भ किये। यह मात्र एक ममतावश ही किया। मैंने अपना विगत सब कुछ प्राप्त कर लिया और अपनी कुल परम्पराके नामको जाते हुए पुनः रोक लिया। मैंने यह सब ऐसा कहलवानेके लिए ही किया था। मै इसे सुख नही मानता। यद्यपि मैं दूसरोंकी अपेक्षा सुखी हूँ, फिर भी यह असातावेदनीय है, सच्चा सुख नहीं। जगतमें वहुधा असातावेदनीय विद्यमान है। मैंने धर्ममें अपना समय व्यतीत करनेका नियम बनाया

मत्ताकी बात नही है। पहले यह तो विचार करो कि शरीर किन चीजोंसे बना है। यह रक्त, पित्त, मल, मूत्र, श्लेष्मका भडार है। और इसपर मात्र चमडी मढी हुई है, तब फिर यह पवित्र कैसे हो सकता है? और फिर साधु ऐसा कोई सासारिक काम नही करता जिससे उसे स्नान करनेकी आवश्यकता रहे।

जिज्ञासु—किन्तु स्नान करनेसे उन्हे क्या हानि है?

सत्य—यह तो स्थूलबुद्धिका ही प्रश्न है। पहले यह ज्ञात होना चाहिए कि स्नान करनेसे असख्यात जन्तुओंका विनाश, कामाग्निकी प्रदीप्ति, व्रतका भग, परिणामोका बदलना, इत्यादि तमाम अशुचियाँ उत्पन्न होती हैं। और इससे आत्मा महान् मलिन हो जाता है। शरीरकी, जीवहिंसायुक्त जो मलिनता है सो अशुचि है। तत्त्व विचारसे यह समझना चाहिए कि अन्य मलिनतासे तो आत्माकी उज्वलता होती है, स्नान करनेसे व्रतभग होकर आत्मा मलिन होता है, और आत्माकी मलिनता ही अशुचि है।

जिज्ञासु—आपने मुझे बहुत ही सुन्दर कारण बतलाया। सूक्ष्म विचार करने पर जिनेश्वरके कथनसे बोध और अति आनन्द प्राप्त होता है। अच्छा, अब यह बतलाइये कि—गृहस्थाश्रमियोको जीव-हिंसा अथवा ससार कर्तव्यसे हुई शरीरकी अशुचि दूर करनी चाहिए या नही?

सत्य—समझके साथ अशुचिको दूर करना ही चाहिये। जैन-दर्शनके समान अन्य एक भी पवित्र दर्शन नहीं है। और वह अप-वित्रताका बोध नही करता, किन्तु शौचाशौचका स्वरूप समझ लेना चाहिए।

शिक्षापाठ ५५ सामान्य नित्यनियम

प्रभातसे पूर्व जाग[illegible]कर न[illegible] मत्रका स्मरण करके मन-

शिक्षापाठ ६५ : सुखके सम्बन्धमें विचार—भाग ५

इन सब बातों परसे आपको ऐसा लगेगा कि मै सुखी हूँ। और सामान्य विचारसे यदि मुझे वहुत सुखी मानो तो माना जा सकता है। मुझे धर्म, शील और नीतिसे तथा शास्त्रावधानसे जो आनन्द उत्पन्न होता है वह अवर्णनीय है। किन्तु तत्त्वदृष्टिसे मै सुखी नहीं माना जा सकता। जबतक मैने बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका सब प्रकारसे त्याग नहीं किया तबतक राग-द्वेषका भाव विद्यमान है। यद्यपि वह बहुत अंशमें नहीं है, परन्तु है अवश्य, इसलिए वहाँ जंजाल भी है। सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग करनेकी मेरी सम्पूर्ण आकांक्षा है, किन्तु जबतक ऐसा नहीं हुआ तबतक किसी माने गये प्रियजनका वियोग, व्यवहारमें हानि और कुटुम्बियोंका दुःख, यह सव थोड़े अंशमें भी पीड़ा दे सकते है। अपने शरीरमें मृत्युके अतिरिक्त भी विविधप्रकारके रोगोंका होना सम्भव है, इसलिए मात्र निर्ग्रन्थ बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग और अल्पारम्भका त्याग नहीं हुआ तबतक मै अपनेको सुखी नहीं मानता। अब आपको तत्त्व-दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र अथवा कुटुम्ब इत्यादिसे सुख नहीं होता। और यदि इन्हें सुख माना जाय तो जब मेरी स्थिति गिर गई थी तब यह सुख कहाँ गया था? जिसका वियोग होता है, जो क्षणभंगुर है और जहाँ एकत्व अथवा अव्याबाधत्व नही है वहाँ सम्पूर्ण सुख नही है। इसी लिए मै अपनेको सुखी नहीं कह सकता। मै बहुत विचार कर-करके व्यापार और कारोबार करता था, तथापि ऐसा नही है कि मुझे आरम्भोपाधि, अनीति और किंचित्-मात्र भी कपटका सेवन नहीं ही करना पड़ा। मुझे अनेक प्रकारके आरम्भ और कपटका सेवन करना पड़ा था।

आप यह समझते हों कि देवोपासनासे लक्ष्मी प्राप्त हो जायेगी, किन्तु यदि पुण्य नहीं होगा तो वह कदापि मिलने वाली नहीं हैं। पुण्यसे

आपके द्वारा कहे गये दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रताको मैं नही पहचाना। हे भगवन्! मैं भूला, भटका, भ्रमित हुआ और अनन्त ससारकी विडम्बनामे पडा हूँ। मैं पापी हूँ। मैं बहुत मदोन्मत्त और कर्मरजसे मलिन हूँ। हे परमात्मन्! आपके कहे हुए तत्त्वके बिना मेरा मोक्ष नही। मैं निरन्तर प्रपचोमे पडा हूँ। अज्ञानसे अध हुआ हूँ, मुझमे विवेकशक्ति नही, मैं मूढ हूँ, मैं निराश्रित हूँ, अनाथ हूँ। निरागी परमात्मन्! अब मैं आपकी, आपके धर्मकी और आपके मुनियोंकी शरण ग्रहण करता हूँ। मेरी यह अभिलाषा है कि मेरे अपराध क्षय हो और मैं समस्त पापोंसे मुक्त होऊँ! मैं अब अपने विगत पापोंका पश्चात्ताप करता हूँ। ज्यो-ज्यो मैं सूक्ष्म विचारपूर्वक गहराईमे उतरता हूँ त्यो-त्यों आपके द्वारा कथित तत्त्वोंके चमत्कार मेरे आत्मस्वरूपका प्रकाश करते हैं। आप वीतरागी, निर्विकारी, सद्चिदानन्दस्वरूप, सहजानन्दी, अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी और त्रैलोक्यप्रकाशक है। मैं मात्र अपने हितके लिए आपकी साक्षीमे क्षमा चाहता हूँ। मेरी यही आकाक्षा और वृत्ति हो कि एक क्षण भर भी आपके द्वारा कहे गये तत्त्वमे शका न हो और आपके द्वारा बताए हुए मार्गमे दिनरात बना रहूँ। हे सर्वज्ञ भगवान्! मैं आपसे विशेष क्या कहूँ? आपसे कुछ अज्ञात नही है। मैं मात्र पश्चात्तापसे कर्मजन्य पापकी क्षमा चाहता हूँ। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति!

शिक्षापाठ ५७ . वैराग्य धर्मका स्वरूप है

कोई भी रक्त-रजित वस्त्र रक्तसे धोनेपर धोया नही जा सकता किन्तु वह और अधिक रगा जाता है। यदि उस वस्त्रको पानीसे धोया जाय तो उसकी मलिनता दूर होना सम्भव है। इस दृष्टातको आत्मापर घटित करना चाहिए। आत्मा अनादिकालसे ससाररूपी रक्तसे मलिन है। वह मलिनता इसके रोम-रोममे व्याप्त

व्याधि और समस्त अज्ञानभावरहित ऐसे शाश्वत मोक्षका कारण है।

शिक्षापाठ ६६ : सुखके सम्बन्धमें विचार—भाग ६

धनाढ्य—आपको मेरी बात अच्छी लगी इसलिए मै निरभिमानपूर्वक आनन्द मानता हूँ। मै आपके लिए योग्य योजना करूँगा। मै अपने सामान्य विचार कथाके रूपमें यहाँ कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ।

जो लोग मात्र लक्ष्मीका उपार्जन करनेमें कपट लोभ और मायाजालमें फँसे पड़े है वे बहुत दुखी है। वे उसका न तो पूरा उपयोग कर पाते है, और न अपूर्ण उपयोग ही कर सकते है, वे मात्र उपाधि ही भोगते रहते है। वे असंख्यात पाप करते है। अन्तमें उन्हे काल अचानक ले भागता है। वे जीव अधोगतिको प्राप्त होकर अनन्त संसारको बढ़ाते रहते हैं। वे प्राप्त हुए मानव शरीरको निर्मूल्य कर डालते है, जिससे कि वे निरन्तर दुःखी ही हैं।

जिससे अपनी उपजीविकाके लिए आवश्यक साधन-मात्र अल्पारम्भसे रखे है, शुद्ध एक पत्नी-व्रत, सन्तोष, परत्माकी रक्षा, यम, नियम, परोपकार, अल्पराग, अल्पद्रव्य-माया, और सत्य तथा शास्त्राध्ययनका ध्यान रखा है, जो सत् पुरुषोंकी सेवा करता है, जिसने निर्ग्रन्थ होनेका मनोभाव रखा है, जो अनेक प्रकारसे संसारसे विरक्त जैसा है, जिसका वैराग्य और विवेक उत्कृष्ट है, वह पवित्रतामें सुखपूर्वक काल निर्गमन करता है।

जो समस्त प्रकारके आरम्भ और परिग्रहसे रहित हुए है, द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जो अप्रतिबन्ध भावसे विचरण करते है, जो शत्रु और मित्रके प्रति समान दृष्टि वाले हैं और जिनका समय शुद्ध आत्मध्यानमें व्यतीत होता है अथवा जो स्वाध्याय अथवा ध्यानमें लीन है, ऐसे जितेन्द्रिय और जितकषाय निर्ग्रन्थसाधु परम सुखी है।

शिक्षापाठ ५८ धर्मके मतभेद—भाग १

इस जगतीतल पर अनेक प्रकारके धर्म-मत मौजूद है। और यह भी न्याय-सिद्ध है कि ऐसे मतभेद अनादिकालसे हैं। किन्तु यह मतभेद कुछ कुछ रूपान्तरित होते जाते है। इस सम्बन्धमे यहाँ कुछ विचार करे।

इनमेसे अनेक मतभेद परस्पर मिलते जुलते-से है और कितने ही परस्पर विरुद्ध हैं। कितने ही मतभेद मात्र नास्तिकोके द्वारा फैलाये हुये हैं। बहुतसे मत सामान्य नीतिको धर्म कहते है और बहुत-से मत ज्ञानको ही धर्म कहते है। कुछ अज्ञानको ही धर्म-मत मानते हैं। कुछ लोग भक्तिको धर्म कहते है, कितने ही क्रियाको धर्म कहते हैं, कुछ विनयको धर्म कहते हैं और कितने ही शरीरकी रक्षाको धर्म-मत मानते है।

इन धर्म-स्थापकोने ऐसा उपदेश दिया मालूम होता है कि हम जो कहते है वह सर्वज्ञकी वाणीरूप और सत्य है, और शेष सब मत असत्य तथा कुतर्कवादी है, इसलिए उन मतवादियोने एक-दूसरेका योग्य अथवा अयोग्य खडन किया है। वेदान्तके उपदेशक यही उपदेश देते है, सांख्यका भी यही उपदेश है, बुद्धका भी यही उपदेश है। न्यायमतवालोका भी यही उपदेश है। वैशेषिकोका भी यही उपदेश है। शक्तिपंथ वालोका भी यही उपदेश है। वैष्णवादिकका भी यही उपदेश है। मुसलमानोका भी यही उपदेश है और क्राइस्टका भी यही उपदेश है कि हमारा यह कथन तुम्हे सर्वसिद्धि प्रदान करेगा। तब फिर हमे क्या विचार करना चाहिए?

वादी और प्रतिवादी दोनो सच्चे नही होते और दोनो ही झूठे भी नहीं होते। अधिक हुआ तो वादी कुछ अधिक सच्चा और प्रतिवादी कुछ थोडा झूठा होता है[1]। मात्र दोनोकी बात झूठी नही

१ अथवा प्रतिवादी कुछ अधिक सच्चा

सुख प्राप्त करतां सुख सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो;
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो ? ॥ १ ॥

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो ?
शुं कुटुम्ब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो;
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो
एनो विचार नहीं अहो हो ! एक पळ तमने हवो !! ॥ २ ॥

निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्य शक्तिमान जेथी जंजीरेथी नीकळे;
परवस्तुमां नहि मूंझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धान्त के पश्चात् दुःख ते सुख नहीं ॥ ३ ॥

हुँ कोण छुं क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?
कोना संबंधे वळगणा छे ? राखुं के ए परिहरुं ?
एना विचार विवेकपूर्वक शान्त भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धान्त तत्त्व अनुभव्यां ॥ ४ ॥

ते प्राप्त करवा वचन कोनुं सत्य केवळ मानवुं ?
निर्दोष नरनुं कथन मानो, 'तेह' जेणे अनुभव्युं;
रे ! आत्म तारो ! आत्म तारो ! शीघ्र एने ओळखो,
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो ॥ ५ ॥

बहुत पुण्यके पुंजसे इस शुभ मानवदेहकी प्राप्ति हुई है, तथापि अरे रे ! भवचक्रका एक भी चक्कर दूर नही हो पाया । तनिक इस बात पर तो ध्यान दो कि सुखको प्राप्त करनेसे सुख दूर होता है । अहो इस क्षण क्षणमें होनेवाले भयंकर भावमरणमें तुम क्यों रच-पच रहे हो ? ॥ १ ॥

यदि तुम्हारी लक्ष्मी और अधिकार बढ़ गये तो बतलाओ तो सही कि इसमें तुम्हारा क्या बढ़ गया ? कुटुम्ब और परिवारके बढ़ने-

सकता। मैं तो केवल इतना ही कहता हूँ कि एक सत्य है और शेष सब अपूर्ण तथा सदोष हैं। तथा कितने ही कुतर्कवादी और नास्तिक हैं, वे सर्वथा असत्य हैं, परन्तु जो परलोकसम्बन्धी अथवा पाप सम्बन्धी कुछ भी उपदेश अथवा भय बतलाते हैं इस प्रकारके धर्म-मतको अपूर्ण और सदोष कहा जा सकता है। एक दर्शन जो कि निर्दोष और पूर्ण कहा जा सकता है उस सम्बन्धी बात अभी एक ओर रखते हैं।

अब यहाँ शंका हो सकती है कि सदोष और अपूर्ण कथनका उपदेश उसके प्रवर्तकने क्यों दिया होगा? इसका समाधान होना चाहिए। उन धर्म-मतवालोंकी जहाँ तक बुद्धिकी गति पहुँच सकी वहाँ तक उन्होंने विचार किया। अनुमान, तर्क और उपमा आदि के आधारसे उन्हें जो कथन सिद्ध प्रतीत हुआ वह मानों प्रत्यक्ष रूपसे भी सिद्ध ही है, ऐसा उन्होंने बतलाया। उन्होंने जो पक्ष लिया उसमें मुख्यत एकान्तिकवाद लिया, भक्ति, विश्वास, नीति, ज्ञान अथवा क्रियामेंसे एक विषयका विशेष वर्णन किया, इससे उन्होंने अन्य मानने योग्य विषयोंको दूषित सिद्ध कर दिया। और फिर उन्होंने जिन विषयोंका वर्णन किया उन्हें समस्त भाव-भेदोंसे नहीं जाना था, किन्तु अपनी महाबुद्धिके अनुसार उनका बहुत-सा वर्णन किया। और तार्किक सिद्धांत तथा दृष्टांत आदिकसे सामान्य बुद्धि वाले लोगोंके सम्मुख अथवा जड बुद्धि वाले मनुष्योंके सम्मुख उन्होंने सिद्ध कर दिखाया। कीर्ति, लोकहित अथवा अपनेको भगवान् मन-वानेकी आकांक्षामेंसे एकाध भी उनके मनकी भ्रमणा होनेसे वे अत्यन्त उग्र उद्यमादिकसे विजयको प्राप्त हुए। कुछ लोगोंने शृंगार और लोकप्रिय लहरों[1] साधनोंसे मनुष्यके मनको हर लिया। वैसे तो दुनिया मूलसे ही मोहमायामें डूबी पड़ी है इसलिए इन लोगोंके

1 पाठान्तर—लोकेच्छित

करना बहुत दुर्लभ है। इसकी गति अत्यन्त चपल और पकड़में नही आ सकने वाली है। महाज्ञानियोने ज्ञानरूपी लगाम लगाकर इसे स्तम्भित करके सब पर विजय प्राप्त की है।

उत्तराध्ययनसूत्रमें महर्षि नमिराजने शकेन्द्रसे ऐसा कहा है कि दस लाख सुभटोंको जीतने वाले बहुतसे पड़े है किन्तु अपनी आत्माको जीतनेवाले बहुत ही दुर्लभ हैं। और जिन्होने निज आत्मा पर विजय प्राप्त की है वे दस लाख सुभटोंको जीतने वालेकी अपेक्षा अति उत्तम हे।

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदात्री भूमिका है। मन ही बन्ध और मोक्षका कारण है। मन ही समस्त संसारकी मोहनी रूप है इसके वशमें हो जानेपर आत्मस्वरूपको प्राप्त करना किंचित् मात्र भी दुर्लभ नही है।

मनसे हो इन्द्रियोंकी लोलुपता है। भोजन, वादित्र, सुगन्धी, स्त्रियोंका निरीक्षण, सुन्दर विलेपन आदि समस्त मन ही माँगता है, इस मोहनीके आड़े आने पर वह धर्मको याद तक नही करने देता। और यदि याद आ भी जाये तो सावधान नही होने देता और सावधान होनेके बाद पतित करनेमें प्रवृत्त हो जाता है—लग जाता है। और जब वह इसमें सफल नहीं होता तो सावधानीमें कोई न कोई न्यूनता पहुँचाता हैं। जो इस न्यूनताको भी प्राप्त न होकर अडिग रहकर मनको जीत लेते है वे सर्वसिद्धिको प्राप्त होते है।

मनको अकस्मात् कोई ही जीत सकता है। नहीं तो यह गृहस्थाश्रममें अभ्यास करके ही जीता जाता है। निर्ग्रंथतामें यह अभ्यास बहुत हो सकता है, तथापि यदि कोई सामान्य परिचय करना चाहे तो उसका मुख्य मार्ग यह है कि मन जो दुरिच्छा करे उसे भूल जाये और वैसा न करे। वह जब शब्द, स्पर्श आदि विलासकी इच्छा करे तब उसे वह न दे। संक्षेपमें, हमें इसके वशीभूत नहीं

अठारह दूषणोंसे ये धर्ममत स्थापक रहित नही थे ऐसा उनके द्वारा रचित चरित्रो परसे भी तत्त्वकी दृष्टिसे दिखाई देता है। कितने ही मतोंमे हिंसा, अब्रह्मचर्य इत्यादि अपवित्र विषयोका उपदेश पाया जाता है जो कि सहज ही अपूर्ण और सराग व्यक्तियोंके द्वारा स्थापित किया हुआ दिखाई देता है। किसीने सर्वव्यापक मोक्ष, किसीने शून्यरूप मोक्ष, किसीने साकार मोक्ष और किसीने अमुक काल तक रहकर पतित होने रूप मोक्ष माना है किन्तु इनमेंसे कोई भी बात सप्रमाण सिद्ध नही हो सकती। [1]उनके अपूर्ण विचारोंका खंडन यथार्थ तथा देखने योग्य है, जो कि निर्ग्रन्थ आचार्योंके द्वारा रचित शास्त्रोंमे देखनेको मिल सकेगा।

वेदके अतिरिक्त अन्य मतोंके प्रवर्त्तक, उनके चरित्र और विचार इत्यादि पढनेसे यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वे मत अपूर्ण हैं। [2]वेदने प्रवर्त्तकोंको भिन्न-भिन्न करके वेधडक होकर बातको मर्ममें स्थापित करके गम्भीर ढोल भी किया है। फिर भी इनके यत्यधिक मतोंको पढनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि यह भी अपूर्ण और एकान्तिक है।

जिस पूर्ण दर्शनके विषयमें यहाँ कहना है वह जैन अर्थात् वीतरागके द्वारा स्थापित किये गए दर्शनके सम्बन्धमें है। इनके उपदेशक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। काल भेदके होने पर भी यह बात

---

१ पाठान्तर—उनके विचारोंकी अपूर्णता जिसप्रकार तत्त्ववेत्ताओंने दर्शायी है, वह यथास्थित जानने योग्य है।

२ पाठान्तर—वर्तमानमें जो वेद हैं वे बहुत प्राचीन ग्रन्थ हैं इसलिए उस मतकी प्राचीनता है। परन्तु वे भी हिंसाके कारण दूषित होनेसे अपूर्ण हैं, और सरागीके वाक्य हैं। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

हैं। स्त्रीके रूप सम्बन्धी ग्रन्थ और काम-विलास सम्बन्धी ग्रन्थ ब्रह्मचारीको नहीं पढ़ना चाहिए। तथा जिससे चित्त चलायमान हो ऐसी किसी भी प्रकारकी शृंगार सम्बन्धी कथा ब्रह्मचारीको नही करना चाहिए।

३. **आसन**—स्त्रियोंके साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। जहाँ स्त्री बैठी हो उस स्थान पर दो घड़ी तक ब्रह्मचारीको नही बैठना चाहिए। भगवानने कहा है कि यह स्त्रियोंकी स्मृतिका कारण है और उससे विकारकी उत्पत्ति होती है।

४. **इन्द्रियनिरीक्षण**—ब्रह्मचारी साधुको स्त्रियोके अंगोपांग नही देखना चाहिए, क्योंकि इनके किसी अंग विशेष पर एकाग्र दृष्टि होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है।

५. **कुड्यान्तर**—दीवाल, कनात अथवा टाटका अन्तरपट बीचमे जहाँ हो और वहाँ स्त्री-पुरुष मैथुन सेवन करते हों तो वहाँ ब्रह्मचारीको नहीं रहना चाहिए, क्योकि शब्द, चेष्टा इत्यादिक विकारके कारण होते हैं।

६. **पूर्वक्रीडा**—स्वयं गृहस्थावस्थामें रहकर किसी भी प्रकारकी शृंगार भरी विषयक्रीडाकी हो तो उसे याद नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे ब्रह्मचर्य भंग होता है।

७. **प्रणीत**—दूध, दही, घृत आदि मधुर और सचिक्कण पदार्थोंका प्रायः आहार नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे वीर्यकी वृद्धि और उन्माद उत्पन्न होता है तथा उससे कामकी उत्पत्ति होती है। इसलिये ब्रह्मचारीको इनका सेवन नहीं करना चाहिए।

८. **अतिमात्राहार**—खूब पेट भरकर आहार नहीं करना चाहिए तथा जिससे अति मात्राकी उत्पत्ति हो ऐसा नहीं करना चाहिए इससे भी विकारकी वृद्धि होती है।

जैसा ही सब कुछ माँगूँगा, इसके अतिरिक्त और दूसरी कोई इच्छा नही करूँगा।

दिन व्यतीत हो गया और रात्रि हुई। सोनेका समय आ गया। वह धनाढ्य और ब्राह्मण एकान्तमे बैठे हुए थे। धनाढ्यने ब्राह्मणसे अपने आगमनका कारण कहनेकी प्रार्थना की।

विप्रने कहा कि मैं घरसे ऐसा विचार करके निकला था कि सबसे अधिक सुखी कौन है यह देखा जाय। और फिर तप करनेके बाद इसके समान ही सुख सम्पादन करूँ। मैंने समस्त भारत और उसके सभी रमणीय स्थलोको देखा किन्तु मुझे किसी राजाधिराजके घर भी सम्पूर्ण सुख नही दिखाई दिया। जहाँ देखा वहाँ आधि, व्याधि और उपाधि ही दिखाई दी। इस ओर आते हुए मैंने आपकी प्रसशा सुनी इसलिए मैं इस ओर चला आया और मुझे सन्तोष भी हुआ। आपके जैसी ऋद्धि, सत्पुत्र, कमाई, स्त्री, कुटुम्ब, घर इत्यादि मेरे देखनेमे अन्यत्र कही नही आए। आप स्वय भी धर्मशील, सद्-गुणी और जिनेश्वरके उत्तम उपासक हैं। इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि आपके जैसा सुख अन्यत्र नही है। भारतमे आप विशेष सुखी हैं। उपासना करके यदि कभी मैं देवसे याचना करूँगा तो आपके जैसी ही सुख-स्थिति माँगूँगा।

धनाढ्यने कहा कि—पडित जी। आप एक बडे मर्म-भरे विचारसे निकले हैं, इसलिए आपसे मैं अपने अनुभवकी बात ज्यों-की-त्यों कह रहा हूँ, फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें। आपने मेरे यहाँ जो-जो सुख-दु ख देखे वे सुख भारत भरमे कही भी नही हैं, ऐसा आप कहते हैं सो भले ही वैसा होगा, किन्तु मुझे यह सही सम्भव मालूम नही होता। मेरा सिद्धान्त तो यह है कि जगत्में किसी भी जगह वास्तविक सुख नही है, प्रत्युत् सारा ससार दु खसे जल रहा है। आप मुझे सुखी देख रहे हैं किन्तु यथार्थमे मैं सुखी नही हूँ।

वोले—तुमने इस समय मेरा जो रूप देखा सो तो ठीक है, किन्तु जब मैं राजसभामें वस्त्रालंकार धारण करके सम्पूर्णतया सुसज्जित होकर सिंहासन पर वैठता हूँ तब मेरा रूप-सौन्दर्य और भी देखने योग्य होता है। अभी तो मैं उवटन लगाये शरीरसे बैठा हूँ। यदि तुम उस समय मेरे रंग-रूपको देखोगे तो अद्भुत चमत्कारको प्राप्त होओगे और चकित रह जाओगे। तब देवोंने कहा—अच्छा, तो हम राजसभामें आयेंगे। ऐसा कहकर वे वहाँसे चले गये।

तत्पश्चात् सनत्कुमारने उत्तम वस्त्रालंकार धारण किये। अनेक उपचारोंसे जैसे अपनी काया विशेष आश्चर्यको उत्पन्न करे वैसी सजाकर वह राज्य-सभामें आकर सिंहासन पर आ वैठे। दोनों ओर समर्थ मंत्रीगण, सुभट विद्वत्गण और अन्य सभासद अपने-अपने योग्य आसन पर वैठ गये। राजेश्वर पर चमर छत्र शोभित हो रहे थे और क्षेम-क्षेमसे वधाई दी जा रही थी। उस समय वहाँ वे देव पुनः विप्र रूपमें आये वे चक्रवर्तीके अद्भुत रूप-रंगसे आनन्द प्राप्त करनेकी अपेक्षा मानों अधिक खेदको प्राप्त हुए हों इस प्रकारसे उन्होंने अपने शिर हिलाये। चक्रवर्तीने उनसे पूछा कि हे ब्राह्मणो! तुमने पिछली वारकी अपेक्षा कुछ दूसरी ही तरहसे शिर हिलाया है, इसका क्या कारण है? यह वात मुझसे स्पष्ट कहो। अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोने कहा कि हे महाराज! उस रूपमें और इस रूपमें धरती और आकाश जितना अन्तर आ गया है। चक्रवर्तीने उन्हें यह वात स्पष्ट समझानेको कहा। तब ब्राह्मणों-ने कहा कि महाराजाधिराज! पहली वार आपका शरीर अमृतके समान था और अव वही विष तुल्य मालूम हो रहा है। जब वह अमृत जैसा लग रहा था तब आनन्द हुआ था और इस समय यह विष तुल्य मालूम हो रहा है इसलिए खेद हो रहा है। यदि आप हमारे इस कथनकी सचाईको सिद्ध करना चाहते हो तो आप

यह विचार छोड देना चाहिए। मैंने उन्हे विविध प्रकारसे समझाया कि मैं यदि अच्छी स्थितिको प्राप्त होऊँगा तो अवश्य ही लौटकर वापिस आ जाऊँगा, ऐसा वचन देकर मैं जावा बन्दरगाहके प्रवासके लिए निकल पडा।

भाग्यके पीछे लौटनेकी तैयारी हुई, दैवयोगसे मेरे पास एक कानी कौडी शेष नही रह गई थी। मेरे पास एकाध महीने उदर-पोषण करनेका कोई साधन नही था तथापि मैं जावाको चला गया। वहाँ मेरी बुद्धिने भाग्यको विकसित कर दिया। मैं जिस जहाजमे बैठा था उस जहाजके नाविकने मेरी चचलता और नम्रताको देख कर अपने मालिकसे मेरे दु खकी बात कही। उसे सुनकर मालिकने मुझे बुलाया और मुझे एक काममे लगा दिया। उसमे मैं अपने भरण-पोषणसे भी चौगुना पैदा करने लगा। जब मेरा मन उस व्यापारमे स्थिर हो गया तब मैंने भारतके साथ उस व्यापारको बढानेका प्रयत्न किया, और मुझे उसमे सफलता मिली। मात्र दो वर्षमे मैंने पाँच लाख रुपयेकी कमाई कर ली। पश्चात् उस जहाज-के मालिकसे राजी-खुशीके साथ आज्ञा लेकर और कुछ माल खरीद-कर मैं द्वारिकाकी ओर चल दिया। कुछ समयके बाद जब मैं वहाँ पहुँचा तब बहुतसे लोग मेरा स्वागत-सत्कार करनेके लिए वहाँ आ पहुँचे। मैं अपने कुटुम्बियोसे आनन्द-उल्लासपूर्वक जाकर मिला। वे मेरे भाग्यकी प्रशसा करने लगे। जावासे लाये हुए मालने मुझ एकके पाँच करा दिये। पडित जी। मुझे वहाँ अनेक प्रकारके पाप करने पडते थे, मुझे वहाँ पेट भर खानेको भी नही मिलता था। किन्तु एक बार लक्ष्मीको सिद्ध करनेकी जो प्रतिज्ञा मैंने की थी भाग्य-योगसे पूर्ण हुई। मैं जिस दु खदायक स्थितिमे था उस स्थितिमे दु खकी क्या कमी थी? एक तो स्त्री-पुत्र आदिक थे ही नही, उधर माँ-बाप पहले हीसे परलोक सिधार चुके थे। कुटुम्बियोंके वियोगसे और

हुए महारोगकी उत्पत्ति होती है जिसका स्वभाव पल भरमें विनस जानेका है, जिसके प्रत्येक रोममें पौने दो-दो रोगोंका निवास है और यह शरीर साढ़े तीन करोड़ रोमयुक्त है इसलिए यह रोगोंका वृहद् भंडार है यह बात विवेकसे स्पष्ट सिद्ध है। अन्न आदिकी न्यूनाधिकतासे वह प्रत्येक रोग इस शरीरमें प्रगट दिखाई देते हैं। मल, मूत्र, विष्ठा, हाड, मास, पीप और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, और जिसकी मनोहरता मात्र त्वचासे मानी जाती है उस शरीरका मोह सचमुच ही विभ्रम है। सनत्कुमारने जिसका लेशमात्र भी अभिमान किया वह भी उससे सहन नहीं हुआ तब फिर हे कायर तू क्योंकर मोह करता है? यह मोह मंगलकारी नही है।

शिक्षापाठ ७२ : बत्तीस योग

सत्पुरुषोंने निम्नलिखित बत्तीस योगोंका संग्रह करके आत्माको उज्ज्वल बनानेका उपदेश दिया है—

१—[1]शिष्य अपने जैसा ही हो जाये इसके लिए उसे श्रुतादिज्ञान देना चाहिए।

२—[2]अपने आचार्यत्वका जो ज्ञान हो उसका दूसरेको बोध देना चाहिए, और उसे प्रकाशित करना चाहिए।

३—आपत्तिकालमें भी धर्मकी दृढ़ता नहीं छोड़नी चाहिए।

४—लोक-परलोकके सुखके फलकी चाहके बिना ही तप करना चाहिए।

५—जो शिक्षा मिली है तदनुसार यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए और नई शिक्षाको विवेकपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

---

१. मोक्षसाधक योगके लिए शिष्यको आचार्यके सम्मुख आलोचना करनी चाहिए।

२. आचार्यको वह आलोचना दूसरेके प्रति प्रकाशित नही करनी चाहिए।

श्रीमद् राजचन्द्र वर्ष १६ वा

जन्म ववाणिया
वि०सं० १९२४, कार्तिक सुदी १५

देहोत्सर्ग राजकोट
वि०सं० १९५७, चैत्र वदी ५
(गुज०)

अथवा सच्चिदानन्द स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवें भागको भी, योग्य उपमेयके नही मिलनेसे मैं तुझे नहीं कह पा रहा हूँ।

मोक्षके स्वरूपमें शंका करनेवाले कुतर्कवादी हैं। उन्हें क्षणिक सुख-संवधी विचारके आगे सत्-सुखका विचार नहीं आ सकता। कोई आत्मिक ज्ञानहीन व्यक्ति ऐसा भी कहते हैं कि—यहाँसे कोई विशेप सुखका साधन मोक्षमें नही होनेसे उसे अनन्त, अव्यावाध सुख कह देते हैं। किन्तु उनका यह कथन विवेकपूर्ण नहीं है। प्रत्येक मनुष्यको निद्रा प्रिय है, किन्तु उसमें वह कुछ जान या देख नहीं सकते। और यदि कुछ जाना भी जाता है तो वह केवल स्वप्नोपाधिका मिथ्यापना ही है। जिसका कोई प्रभाव भी हो सकता है। जिसमें सूक्ष्म और स्थूल सव कुछ जाना और देखा जा सकता है ऐसी स्वप्न रहित निद्रा तथा उपाधि रहित शान्त निद्राका वर्णन कोई कैसे कर सकता है? और कोई इसकी उपमा भी क्या दे? यह तो स्थूल दृष्टान्त है फिर भी इसे यहाँ इसलिए कहा है कि इस सम्वन्धमें वाल और अविवेकी कुछ विचार कर सकें।

भीलका दृष्टान्त, समझानेके लिए भापा-भेदके फेर-फारसे तुम्हें कह वताया है।

शिक्षापाठ ७४ : धर्मध्यान—भाग १

भगवान्‌ने चार प्रकारके ध्यान कहे है—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमेंसे पहलेके दो ध्यान त्यागने योग्य है और वादके दो ध्यान आत्मसार्थकरूप है। श्रुतज्ञानके भेदोंको जाननेके लिए, शास्त्रविचारमें कुशल होनेके लिए, निर्ग्रन्थप्रवचनका तत्त्व प्राप्त करनेके लिए, सत्पुरुषोंके द्वारा सेवा करने योग्य, विचार करने योग्य और ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद हैं। इनमेसे पहले चार भेदोंको कहता हूँ—

है। सत्‌शास्त्रोका पठन-पाठन और मनन, सत्पुरुषोका समागम, यम-नियम, प्रतिमास वारह दिनका ब्रह्मचर्य, यथाशक्ति गुप्तदान, इत्यादि धर्म रूपसे मै अपना समय व्यतीत करता हूँ। समस्त व्यवहार सम्वन्धी उपाधियोमेसे कितना ही भाग अधिकतया मैने त्याग दिया है। अब मैं अपने पुत्रोको व्यवहारमे यथायोग्य बनाकर निर्ग्रंथ होनेकी इच्छा रखता हूँ। मै अभी निर्ग्रन्थ हो सकूँ ऐसी वात नही है, इसमे ससार-मोहिनी अथवा ऐसा ही कोई दूसरा कारण नही है प्रत्युत् वह भी धर्मसम्वन्धी ही कारण है। गृहस्थ धमके आचरण-वहुत निकृष्ट हो गये हैं और मुनि लोग उन्हे सुधार नही सकते। गृहस्थ गृहस्थको विशेष रूपसे उपदेश कर सकता है, अपने आचरणसे भी उन पर प्रभाव डाल सकता है, मात्र इसलिए मै धर्मके सम्वन्धमे गृहस्थ वर्गको वहुधा वोध देकर यम-नियममे लगाता हूँ। हमारे यहाँ प्रति सप्ताह प्राय पाँच सौ सद्‌गृहस्थोकी सभा भरती है। मैं उन्हे आठ दिनका नया अनुभव और शेष पिछला धर्मानुभव दो-तीन मुहूर्तमे उपदेशित करता हूँ। मेरी स्त्री धर्मशास्त्रके सम्बन्धमे कुछ जानती है। इसलिए वह भी स्त्री-वर्गको उत्तमोत्तम यम-नियमका उपदेश देकर साप्ताहिक सभा करती है। मेरे पुत्रोको भी शास्त्रोका यथाशक्य परिचय है। मेरे अनुचर भी विद्वानोका सम्मान, अतिथि-सम्मान, विनय और सामान्य सत्यता तथा एक ही भाव—ऐसे नियम प्राय पालन करते हैं। यही कारण है कि वे सब साताका भोग कर सकते है। लक्ष्मीके साथ ही मेरी नीति, धर्म, सद्‌गुण और विनयने जनसमुदाय पर वहुत अच्छा प्रभाव डाला है। अव ऐसी स्थिति है कि राजा तक भी मेरी नैतिक वातको स्वीकार करता है। आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि मै यह सब आत्मप्रशसाके लिए नही कह रहा हूँ किन्तु आपके द्वारा पूछी गई वातका स्पष्टीकरण करनेके लिए यह सब संक्षेपमे कह रहा हूँ।

तीर्थंकर बीस और उत्कृष्ट एक सौ सत्तर होते हैं तथा केवली भगवान और निर्ग्रंथ मुनिराज विचरते हैं, उन्हे "वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि" इस भाँति तथा वहाँ रहने वाले श्रावक और श्राविकाओंका भी गुणगान करें। उस तिरछे लोकसे असंख्यात गुना अधिक ऊर्ध्वलोक है। वहाँ अनेक प्रकारके देवताओंका निवास है। पश्चात् ईषत् प्राग्भारा है। उसके बाद मुक्तात्मा विराजित है। उन्हे "वंदामि, यावत् पज्जुवासामि"। उस ऊर्ध्वलोकसे कुछ विशेष अधोलोक है। वहाँ अनन्त दुःखोंसे परिपूर्ण नरकावास और भुवनपतियोंके भुवनादिक है। इन तीनो लोकके समस्त स्थानोंको इस आत्माने सम्यक्त्व रहित करनीसे अनन्त बार जन्म-मरण करके स्पर्श किया है। ऐसा चिंतवन करना सो 'संस्थानविचय' नामक धर्मध्यानका चौथा भेद है। इन चार भेदोंको विचार कर सम्यक्त्व सहित श्रुत और चरित्र धर्मकी आराधना करनी चाहिए, जिससे यह अनन्त जन्म-मरण दूर हो जाये। धर्मध्यानके इन चार भेदोंका स्मरण रखना चाहिए।

शिक्षापाठ ७५ : धर्मध्यान—भाग २

यहाँ धर्मध्यानके चार लक्षण कहता हूँ। १ **आज्ञारुचि**—अर्थात् वीतराग भगवान्की आज्ञा अंगीकार करनेकी रुचिका उत्पन्न होना। २. **निसर्गरुचि**—आत्मा स्वाभाविकरूपसे जातिस्मरण आदि ज्ञानके द्वारा श्रुत सहित चारित्र धर्मको धारण करनेकी रुचिको प्राप्त हो उसे निसर्गरुचि कहते है। ३ **सूत्ररुचि**—श्रुतज्ञान और अनन्त तत्त्वके भेदोंके लिए कहे हुए भगवानके पवित्र वचनोंका जिनमें गूँथन हुआ है, ऐसे सूत्रोको श्रवण करने, मनन करने और भावसे पठन करनेकी रुचिका उत्पन्न होना सूत्ररुचि है। ४. **उपदेशरुचि**—

लक्ष्मीको प्राप्त करके महान् आरम्भ, कपट और मान-प्रतिष्ठाको बढाना इत्यादि महापापके कारण है। पाप नरकमे डालता है, पापसे आत्मा प्राप्त किये हुए महान् मानव-देहको खो देता है। एक तो मानो पुण्यको खा जाना और ऊपरसे पापका बन्ध करना। लक्ष्मीकी और उसके द्वारा समस्त ससारकी उपाधिको भोगना इत्यादि विवेकी आत्माको मान्य नही हो सकती, ऐसी मेरी धारणा है। मैंने जिस कारणसे लक्ष्मीका उपार्जन किया था वह कारण मै पहले आपको बतला चुका हूँ। अब जैसी आपकी इच्छा हो वैसा कीजिए। आप विद्वान् हैं और मै विद्वानोको चाहता हूँ। यदि आपकी इच्छा हो तो धर्मध्यानमे सलग्न होकर सकुटुम्ब यही भले ही रहो। आपकी आजीविकाकी सरल योजना जैसे आप कहे वैसे मै रुचिपूर्वक करा दूँ। यहाँ पर शास्त्राध्ययन और सत् वस्तुका उपदेश करें। मै समझता हूँ कि मिथ्यारम्भोपाधिकी लोलुपतामे आप न पडें तथापि आपकी जैसी इच्छा हो वैसा कीजिए।

पण्डित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने योग्य आख्यायिका कही है। सचमुच ही आप कोई महात्मा हैं, पुण्यानुबधी पुण्यवान् जीव है, विवेकी हैं, आपकी शक्ति अद्भुत है। मैं दरिद्रतासे तग आकर जो इच्छा करता था वह ऐकान्तिक थी। मैंने ऐसे सर्वप्रकारसे विवेकपूर्ण विचार नही किये थे। मै चाहे जितना विद्वान् हूँ, किन्तु मुझमे ऐसा अनुभव और ऐसी विवेक शक्ति नही है। मैं यह सच ही कह रहा हूँ। आपने मेरे लिए जो योजना बतलायी है, उसके लिए मै आपका बहुत आभारी हूँ। और उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करनेके लिए मै अपना हर्ष व्यक्त करता हूँ। मैं उपाधि नही चाहता। लक्ष्मीका फदा उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ है। ससार मानो धधक रहा है, उसमें सुख नही है। आपने जो उपाधि रहित मुनि-सुखकी प्रशसा की है वह सत्य है। वह सन्मार्ग परिणामत सर्वोपाधि, आधि-

के लिए सभामें उन भावोंको उसी तरह प्रणीत करनेको धर्मकथा-लंवन कहते है। जिससे सुननेवाले और श्रद्धा करनेवाले दोनों ही भगवान्‌की आज्ञाके आराधक वनें। ये धर्मध्यानके चार आलंवन कहे गये। अब धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षाये कहता हूँ। १. एकत्वानुप्रेक्षा, २. अनित्यानुप्रेक्षा, ३. अशरणानुप्रेक्षा, ४. संसारानुप्रेक्षा। इन चारोंका उपदेश वारह भावनामे कहा जा चुका है वह तुम्हे स्मरण होगा।

शिक्षापाठ ७६ : धर्मध्यान—भाग ३

धर्मध्यानको पूर्व आचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोने भी विस्तारपूर्वक वहुत समझाया है। इस ध्यानके द्वारा आत्मा मुनित्व-भावमें निरंतर प्रवेश करता है।

जो जो नियम अर्थात् भेद, आलम्बन और अनुप्रेक्षा कही हैं वह बहुत मनन करने योग्य है। अन्य मुनीश्वरोंके कहे अनुसार उन्हें मैने सामान्य भाषामें तुम्हें कहा। इसके साथ निरंतर यह ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि इनमेंसे हमने कौन-सा भेद प्राप्त किया, अथवा कौनसे भेदकी ओर भावना रक्खी है? इन सोलह भेदोंमें हर एक भेद हितकारी और उपयोगी है। परन्तु जिस अनुक्रमसे उन्हें लेना चाहिए उस अनुक्रमसे लेनेपर वे विशेष आत्म-लाभके कारण होते हैं।

बहुतसे लोग सूत्र-सिद्धांतके अध्ययनका कंठस्थ पाठ करते है; यदि वे उनके अर्थ और उनमें कहे मूल तत्त्वोंकी ओर ध्यान दें तो वे कुछ सूक्ष्म भेदको पा सकते है। जैसे केलेके पत्रमें, पत्रमें पत्रकी चमत्कृति है वैसे ही सूत्रार्थमें चमत्कृति है। इसके ऊपर विचार करने पर निर्मल और केवल दयामय मार्गके वीतरागप्रणीत तत्त्व-बोधका बीज अन्त.करणमें अंकुरित हो उठेगा। वह अनेक प्रकारके शास्त्रावलोकनसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारसे और सत्पुरुषोके समागमसे

जिन्होने सर्व घनघाति कर्मोका क्षय किया है, जिनके चार कर्म क्षीण हो चले हैं, जो मुक्त हैं, जो अनतज्ञानी और अनन्तदर्शी हैं वे तो सम्पूर्ण सुखी ही हैं। वे मोक्षमे अनन्त जीवनके अनन्त सुखमे सर्व कर्म-विरक्ततामे विराजमान है।

इस प्रकार सत्पुरुषोके द्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है। पहला तो मुझे त्याज्य है और दूसरा अभी तत्काल ही मान्य है तथा अधिकाशतया इसे ग्रहण करनेका मेरा भाव है। तीसरा बहु-मान्य है और चौथा तो सर्वमान्य तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है।

इस प्रकार पडितजी! आपकी और मेरी सुख सम्बन्धी बातचीत हुई। आगे भी यथाप्रसग इस बातकी चर्चा करते रहेगे उस पर विचार करेंगे। आपसे यह विचार कहनेसे मुझे बहुत आनन्द हुआ है और आप उन विचारोके अनुकूल हुए है इसलिये आनन्दमे और वृद्धि हुई है। इस प्रकार परस्पर बातचीत करते करते हर्ष-विभोर होनेके बाद वे समाधिभावमे शयनको प्राप्त हुए।

जो विवेकी लोग इस प्रकार सुख सम्बन्धी विचार करेंगे वे बहु-तत्त्व और आत्मश्रेणिकी उत्कृष्टताको प्राप्त होगे। इसमे कहे गये अल्पारम्भी, निरारम्भी और सर्वमुक्त लक्षण लक्षपूर्वक मनन करने योग्य हैं। जैसे बने वैसे अल्पारम्भी होकर समभावसे जन-समुदायके हितकी ओर मुडना चाहिये। परोपकार, दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना अत्यन्त सुखदायक है। निर्ग्रंथताके सम्बन्धमे तो विशेष कुछ कहनेकी बात है ही नही। मुक्तात्मा तो अनन्त सुखमय ही है।

६७ अमूल्य तत्त्वविचार

(हरिगीत छद)

बहु पुण्यकेरा पुजथी शुभदेह मानवनो मळ्यो,
तोये अरे! भवचक्रनो आटो नहि एक्के टळ्यो,

मार्गसे प्राप्त किया जा सकता है ? तथा इस ज्ञानका उपयोग अथवा परिणाम क्या है ? यह सब जानना आवश्यक है।

१—अब यहाँ सबसे पहले इस सम्बन्धमें विचार करें कि ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? यह आत्मा इस चौदह रज्जु प्रमाण लोकमें, चारों गतियोंमें अनादि कालसे कर्मयुक्त स्थितिमें पर्यटन कर रहा है। जहाँ क्षण भरको भी सुखका भाव नहीं है ऐसे नरक-निगोद आदि स्थानोंका इस आत्माने बहुत-बहुत काल तक बारंबार सेवन किया है। और इसने असह्य दुःखोंको बारम्बार अथवा यों कहिये कि अनन्त बार सहन किये हैं। इस संतापसे निरन्तर संतप्त आत्मा मात्र अपने ही कर्मोंके विपाकसे पर्यटन किया करता है। इस पर्यटनका कारण अनंत दुखदाई ज्ञानावरणीय आदि कर्म हैं, जिनके कारण आत्मा निजस्वरूपको प्राप्त नहीं कर पाता और वह विषयादिक मोह-बन्धनको निजस्वरूप मान रहा है। इन सबका परिणाम मात्र ऊपर कहे अनुसार ही है कि—अनन्त दुःख अनन्त भावोंसे सहन करना। चाहे जितना अप्रिय, चाहे जितना दुखदायक और चाहे जितना रौद्र होने पर भी जो दुःख अनन्त कालसे अनन्त बार सहन करना पड़ा वह दुःख मात्र अज्ञानादिक कर्मसे ही सहन किया है। इस अज्ञानादिको दूर करनेके लिए ज्ञानकी परिपूर्ण आवश्यकता है।

शिक्षापाठ ७८ : ज्ञानके सम्बन्धमें दो शब्द—भाग २

२. अब ज्ञान प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें कुछ विचार करें। अपूर्ण पर्याप्तिके द्वारा परिपूर्ण आत्मज्ञान सिद्ध नहीं होता, इसलिए छह पर्याप्तियोंसे युक्त देह ही आत्मज्ञानको सिद्ध कर सकता है और ऐसा देह मात्र मानव-देह ही है। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि मानव-देहको प्राप्त तो अनेक आत्मा हैं। तब फिर वे सब आत्मज्ञानको क्यों नहीं प्राप्त कर लेते है ? इसके उत्तरमें हम यह मान सकते हैं कि जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मज्ञानको प्राप्त किया

से तुम्हारी कौनसी बढती है ? इस रहस्यको समझो । क्योकि ससार-का बढना मानो मानव देहको हार जाना है । अरे । तुम्हे इस बात-का विचार एक क्षण भरको भी नही हुआ ? ॥ २ ॥

निर्दोप सुख और निर्दोप आनन्द जहाँसे भी मिल सके वहाँसे प्राप्त करो जिससे कि यह दिव्य शक्तिमान आत्मा बन्धनोंसे मुक्त हो सके । परवस्तुमे लीन होकर आत्माको आकुलित नही करना, इसकी दया मुझे सदा रही है । जिसके अन्तमें दु ख है उसे सुख कहना यह त्यागने योग्य सिद्धान्त है ॥ ३ ॥

मै कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? मै किसके सम्बन्धमे फँसा हुआ हूँ ? मै इसे रखूँ अथवा छोड दूँ ? यदि विवेकपूर्वक और शान्तभावसे इन बातो पर विचार किया गया तो आत्मज्ञानके सभी सिद्धान्त-तत्त्व अनुभवमे आ जायेंगे ॥ ४ ॥

इसे प्राप्त करनेके लिए मात्र किसके वचनको सत्य मानना चाहिए ? जिसने इसका अनुभव किया है ऐसे निर्दोप पुरुषका कथन मानना चाहिए । अरे । आत्माको तारो । उसे शीघ्र ही पहचानो तथा सभी आत्माओमे समदृष्टि रखो, इस वचनको हृदयमे अकित करो ॥ ५ ॥

शिक्षापाठ ६८ जितेन्द्रियता ·

जबतक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जबतक नासिका सुगध चाहती है, जब तक कान वारागनाके गीत और वादित्र चाहते हैं, जब तक आँखें वनोपवन आदिको देखनेका लक्ष्य रखती है, जब तक त्वचा सुगन्धी-लेपन चाहती है तब तक मनुष्य वीतरागी, निर्ग्रंथ, अपरिग्रही, निरारम्भी और ब्रह्मचारी नही हो सकता । मनको वश-मे करना सर्वोत्तम है । इसके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको वशमे जा सकता है । मनको जीतना अत्यत कठिन

असख्यात योजन चलनेवाला एक प्रकारका

५. जाननेके साधन। यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोंको जान लिया है तथापि कुछ विशेष विचार करते हैं। भगवान्‌की आज्ञा और उसके शुद्ध स्वरूपको यथातथ्य जानना चाहिए। स्वयं तो कोई विरला ही जानता है, अन्यथा निर्ग्रन्थ ज्ञानी गुरु ही बतला सकते हैं। निरागी ज्ञाता सर्वोत्तम हैं, इसलिए श्रद्धाका बीजारोपण करनेवाले अथवा उसे पोषण करनेवाले गुरु साधनरूप हैं। इन साधनके लिए संसारकी निवृत्ति अर्थात् शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि अन्य साधन हैं। यदि इन्हें साधनोंको प्राप्त करनेका मार्ग कहा जाय तो भी ठीक है।

६. इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय ऊपर कहा जा चुका है, फिर भी कालभेदसे कुछ कहना है, और वह इतना ही कि दिनमें दो घड़ीका समय भी नियमित रूपसे निकालकर जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे गए तत्त्वबोधका पर्यटन करो। वीतरागके एक सैद्धान्तिक शब्दसे ज्ञानावरणीयका बहुत सा क्षयोपशम हो जाएगा ऐसा मैं विवेकपूर्वक कहता हूँ।

शिक्षापाठ ८१ : पंचमकाल

काल-चक्रके विचारोंको अवश्यमेव जानना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान्‌ने इस कालचक्रके दो भेद कहे है। १. उत्सर्पिणी, २. अवसर्पिणी। इनमें से एक-एक भेदके छह-छह आरे हैं। वर्तमानमें प्रवर्तमान आरा पंचमकाल कहलाता है और वह अवसर्पिणी काल-का पाचवाँ आरा है। उतरते हुए कालको अवसर्पिणी कहते हैं। इस उतरते हुए कालके पाँचवे आरेमें इस भरत क्षेत्रमें कैसी प्रवृत्ति होनी चाहिए इसके लिए सत्पुरुषोने कुछ विचार बतलाये हैं, वे अवश्य जानने योग्य है।

वे पंचमकालके स्वरूपको मुख्यतया इस भावमें बतलाते हैं कि मनुष्योंकी श्रद्धा निर्ग्रन्थ प्रवचन परसे क्षीण होती जाएगी।

होना चाहिए किन्तु उसे अपने वशमे करना चाहिए, और वह भी मोक्षमार्गमे। जितेन्द्रियताके विना समस्त प्रकारकी उपाधियाँ खडी ही रहती है और त्याग भी अत्याग जैसा हो जाता है, लोक लज्जा-के कारण उसका सेवन करना पडता है, इसलिए अभ्यासके द्वारा भी मनको जीतकर स्वाधीनतामे ले जाकर अवश्यमेव आत्महित कर लेना चाहिये।

शिक्षापाठ ६९ ब्रह्मचर्यकी नौ वाडे

ज्ञानियोने थोडे शब्दोमे कैसे भेद और उनका कैसा स्वरूप बताया है? इसके द्वारा कितनी अधिक आत्मोन्नति होती हैं? ब्रह्म-चर्य जैसे गम्भीर विषयका स्वरूप सक्षेपमे अति चमत्कारी ढगसे बताया है। ब्रह्मचर्यरूपी एक सुन्दर वृक्ष और उसकी रक्षा करने वाली जो नौ विधियाँ हैं उसे बाडका रूप देकर ऐसी सरलता कर दी है कि आचारके पालनमे विशेष स्मृति रह सके। इन नौ वाडो-को ज्योका त्यो यहाँ कह रहा हूँ।

१ वसति—ब्रह्मचारी साधुको वहाँ नही रहना चाहिए जहाँ स्त्री, पशु अथवा नपुसकका निवास हो। स्त्रियाँ दो प्रकार की है—मनुष्यनी और देवागना। इनमेसे प्रत्येकके दो दो भेद है। एक तो मूल और दूसरे स्त्रीकी मूर्त्ति अथवा चित्र। इनमेंसे किसी भी प्रकारकी स्त्रीका जहाँ वास हो वहाँ ब्रह्मचारी साधुको नही रहना चाहिए। पशु अर्थात् तिर्यंचनी—गाय, भैंस, इत्यादि जिस स्थानमें हो उस स्थानमे नही रहना चाहिए। और पडग अर्थात् नपुसकका जहाँ वास हो वहाँ नही रहना चाहिए। इस प्रकारका निवास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेष्टा, हावभाव इत्यादि विकार मनको भ्रष्ट करते है।

२ कथा—मात्र अकेली स्त्रियोको ही अथवा एक ही स्त्रीको ब्रह्मचारीको धर्मोपदेश नही देना चाहिए। कथा मोहकी उत्पत्तिरूप

अपेक्षा पुत्रके प्रति प्रेम बढ़ेगा। नियम पूर्वक पतिव्रत धर्म पालने वाली सुन्दरियाँ कम हो जायेंगी। केवल स्नानसे पवित्रता मानी जाएगी। धनसे उत्तम कुल माना जाएगा। शिष्य गुरुसे उल्टे चलेंगे। भूमिका रस कम हो जाएगा। संक्षेपमें कहनेका तात्पर्य यह है कि उत्तम वस्तुओंकी क्षीणता होगी और कनिष्ठ वस्तुओंका उदय होगा। पंचमकालका स्वरूप इन वातोंमें प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है?

मनुष्य सद्धर्मतत्त्वमें परिपूर्ण श्रद्धावान नहीं हो सकेगा; सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा। जम्बूस्वामीके निर्वाणके बाद दश निर्वाणी वस्तुएँ इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छेद हो गई हैं।

पंचमकालके इस स्वरूपको जानकर विवेकी पुरुष तत्त्वको ग्रहण करेंगे; कालानुसार धर्मतत्त्वकी श्रद्धाको प्राप्त करके उच्च गतिको साधकर परिणामत. मोक्षको सिद्ध करेंगे। निर्ग्रंथ प्रवचन, निर्ग्रंथ गुरु इत्यादि धर्मतत्त्वको प्राप्त करनेके साधन हैं। इनकी आराधनासे कर्मोंकी विराधना है।

शिक्षापाठ ८२ : तत्त्वावबोध—भाग १

दशवैकालिकसूत्रमें कहा है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अवुध संयममें स्थिर कैसे रह सकेगा? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा और अनात्माके स्वरूपको जानो। इसके जाननेकी सम्पूर्ण आवश्यकता है।

आत्मा और अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रंथ-प्रवचनमेंसे प्राप्त हो सकता है। यद्यपि अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके सम्बन्धमें विचार वतलाये गए हैं किन्तु वे यथार्थ नहीं हैं। महा प्रज्ञावान आचार्योंके द्वारा किए गए विवेचनपूर्वक प्रकारान्तरसे कथित मुख्य नव तत्त्वोंको जो विवेक वुद्धिसे जानता है वही सत्पुरुष आत्मस्वरूपको पहचान सकता है।

९ विभूषण—स्नान, विलेपन तथा पुष्प आदिका ग्रहण ब्रह्मचारीको नही करना चाहिए इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है।

इस प्रकार भगवानने विशुद्ध ब्रह्मचर्यके लिए नौ वाडें कही हैं, प्राय तुम्हारे सुननेमे भी यह आई होगी तथापि गृहस्थावस्थामे अमुक अमुक दिन ब्रह्मचर्य धारण करनेमे अभ्यासियोको लक्ष्यमे रखनेके लिए यहाँ कुछ समझाकर कहा गया है।

शिक्षापाठ ७० सनत्कुमार—भाग १

चक्रवर्तीके वैभवमे क्या कमी होती है? सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उनका वर्ण और रूप अति उत्तम था। एक बार सुधर्म-सभामे उनके रूप-सौन्दर्यकी प्रशसा हुई। किन्ही दो देवोको वह बात रुचिकर प्रतीत नही हुई। पश्चात् वे उस शकाके निवारणके लिए विप्ररूप धारण कर सनत्कुमारके अन्त पुरमे पहुँचे। उस समय सनत्कुमारके शरीरमे उवटन लगा हुआ था और अग-मर्दनादिक पदार्थोका विलेपन किया हुआ था। उनने मात्र एक अगोछी (पचा) पहन रखी थी। और वे स्नान-मज्जन करनेके लिए बैठे थे। विप्ररूपमे आये हुये वे देव उनका मनोहर-मुख, कचन-वर्णी काया और चन्द्रमा जैसी कान्ति देखकर अति आनन्दित हुए और उन्होने अपना सिर हिलाया। तब चक्रवर्तीने पूछा कि—तुमने सिर क्यो हिलाया है? देवोंने कहा—हम आपके रग-रूपका निरीक्षण करनेके लिए बहुत लालायित थे, हमने स्थान-स्थान पर आपके रग-रूपकी प्रशसा सुनी थी, आज हमने उसे प्रत्यक्ष देखा है, जिससे हमारे मनमे सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त हुआ है। सिर हिलानेका कारण यह है कि जैसा लोगोमे कहा जाता है वैसा ही नही, किन्तु उससे भी विशेष रूप है, कम नही है।

तब सनत्कुमार अपने सौन्दर्यकी स्तुतिमे गौरवान्वित होकर

तत्त्वकी दृष्टिसे नौ तत्त्वोंमें समाविष्ट हो जाता है। तथा समस्त धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार नव-तत्त्व विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिए अर्हत भगवान्का पवित्र बोध है। ये अनन्त शक्तियाँ तब प्रफुल्लित हो सकती है जब नव-तत्त्व-विज्ञानका पारावार ज्ञानी बने॥

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इस नव-तत्त्व स्वरूप ज्ञानमें सहायकरूप है। यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे नव-तत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इसलिए यह निःशंकरूपसे मानना चाहिए कि जिसने नव-तत्त्वको अनन्तभाव भेदसे जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

इन नौ तत्त्वोंको त्रिपदीकी अपेक्षासे घटित करना योग्य है। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य और ग्रहण करने योग्य—ये तीन भेद नव-तत्त्वस्वरूपके विचारमें निहित है।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर क्या करना है? जिस गाँवको जाना नहीं है उसका मार्ग पूछनेसे क्या प्रयोजन?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका समाधान सहजमें ही हो सकता है। त्यागने-योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सर्व प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे है। त्यागने-योग्य वस्तुको जाननेका मूलतत्त्व यह है कि जो उसे नही जाना हो तो अत्याज्य समझकर किसी समय सेवन हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँव पहुँचने तक मार्गमें जो-जो गाँव आते है उनका मार्ग भी पूछना पड़ता है, अन्यथा जहाँ जाना है वहाँ नहीं पहुँचा जा सकेगा। जैसे वे गाँव पूछे परन्तु वहाँ निवास नहीं किया; उसी प्रकार पापादिक तत्त्वोंको जानना तो चाहिए किन्तु उन्हे ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे मार्गमें आनेवाले अन्य गाँवोंका त्याग किया, उसी प्रकार उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

अपने मुँहमे चवाये हुये पानको थूकिये, और देखिये कि उसपर आकर जो मक्खी बैठेगी वह तत्काल मर जायेगी।

शिक्षापाठ ७१ : सनत्कुमार—भाग २

सनत्कुमारने जब यह परीक्षा कर देखी तो यह बात सत्य सिद्ध हुई। पूर्व कर्मके पापके भागमे इस शरीरकी मद सम्बन्धी मिलावट होनेसे चक्रवर्तीका शरीर विषमय हो गया था। नश्वर और अशुचिमय शरीरका ऐसा प्रपच देखकर सनत्कुमारके अन्त करणमे वैराग्य उत्पन्न हो गया कि यह संसार त्याग करने योग्य है और इसी प्रकारकी अशुचि स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके शरीरमे भी विद्यमान है। यह सब मोहमान त्याग करने योग्य है ऐसा कहकर वह छह खडकी प्रभुताका त्याग करके चल दिये। जब वह चक्रवर्ती साधुका वेश धारण करके विहार कर रहे थे तब उन्हे एक महान् रोग उत्पन्न हो गया। उनके सत्यकी परीक्षा करनेके लिए एक देव वैद्यके रूपमे आया, और उसने साधुसे कहा कि मैं बहुत ही कुशल राजवैद्य हूँ, तुम्हारा शरीर रोगका भोग बना हुआ है, यदि तुम कहो तो मैं इस रोगको तत्काल समाप्त कर सकता हूँ। तब साधुने कहा कि हे वैद्य! कर्मरूपी रोग अति उन्मत्त है यदि इस रोगको दूर करनेकी तुम्हारी शक्ति हो तो भले ही मेरे इस रोगको दूर करो। और यदि यह शक्ति न हो तो शारीरिक रोग भले बना रहे।

तब उस देवने कहा कि इस रोगको दूर करनेकी शक्ति मुझमे नही है। तत्पश्चात् साधुने अपनी लब्धिकी परिपूर्ण शक्तिसे अपनी अँगुलीको थूक-भरी करके उस रोग पर लगाई कि तत्काल वह रोग नष्ट हो गया और उनका वह शरीर ज्योका त्यो पूर्ववत् हो गया। तत्पश्चात् उसी समय उस देवने अपना स्वरूप प्रगट किया और वह धन्यवाद देकर तथा वन्दना करके अपने स्थानको चला गया।

जिस शरीरमे कोढके समान सदा रक्त और पीपसे सदबदाते

शिक्षापाठ ८५ : तत्त्वावबोध—भाग ४

जो श्रमणोपासक नव तत्त्वोंको पढ़ना भी नहीं जानते उन्हे वह अवश्य जान लेना चाहिए। जाननेके बाद अधिकाधिक मनन करना चाहिए। जितना समझमें आ सके उतने गम्भीर आशयको गुरुगम्यतासे सद्भावपूर्वक समझना चाहिए। इससे आत्मज्ञान उज्वलताको प्राप्त होगा और यम, नियम आदिका पालन होगा।

नव-तत्त्वका अभिप्राय किसी ऐसी पुस्तकसे नहीं है कि जिसमें नव-तत्त्वकी सामान्य बात गूँथी गई हो किन्तु जिस-जिस स्थल पर जिन-जिन विचारोंको ज्ञानियोने प्रणीत किया है वे सब विचार नव-तत्त्वोंमेंसे किसी न किसी एक दो अथवा विशेष तत्त्वोंके होते हैं। केवली भगवान्ने इन श्रेणियोंसे सम्पूर्ण जगत-मंडल दिखा दिया है। इससे जैसे-जैसे नय आदिके भेदसे यह तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होगा वैसे-वैसे अपूर्व आनन्द और निर्मलताकी प्राप्ति होगी; मात्र विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमाद होना चाहिए। मुझे यह नव-तत्त्वज्ञान बहुत प्रिय है और इसके रसानुभवी भी मुझे सदा प्रिय है।

काल-भेदसे इस समय भरतक्षेत्रमें मात्र मति और श्रुत ये दो ज्ञान ही विद्यमान हैं; शेष तीन ज्ञान परम्पराम्नायसे दिखाई नही देते; तथापि जैसे-जैसे पूर्ण श्रद्धाभावपूर्वक इन नव-तत्त्वज्ञानके विचारोंकी गुफामें उतरते जाते है त्यों-त्यों उसके भीतर अद्भुत आत्म प्रकाश, आनन्द, समर्थ तत्त्व-ज्ञानकी स्फुरणा उत्तम विनोद और गम्भीर चमक आश्चर्यमें डालकर वे विचार शुद्ध सम्यग्ज्ञानका प्रचुर उदय करते है। यद्यपि इस कालमें स्याद्वादवचनामृतके अनन्त सुन्दर आशयोंको समझनेकी परम्परागत शक्ति इस क्षेत्रसे विच्छिन्न हो गई है तथापि तत्सम्बन्धी जो-जो सुन्दर आशय समझमें आते है वे आशय अत्यंत गम्भीर तत्त्वोंसे भरे हुए है। उन आशयोंका पुनः-पुन मनन करनेसे चार्वाकमतिके चंचल मनुष्य भी सद्धर्ममें स्थिर

६—ममत्वका त्याग करना चाहिए।
७—गुप्त तप करना चाहिए।
८—निर्लोभत्व रखना चाहिए।
९—परीषह और उपसर्गको जीतना चाहिए।
१०—चित्तको सरल रखना चाहिए।
११—आत्मसयमका शुद्ध पालन करना चाहिए।
१२—सम्यक्त्वको शुद्ध रखना चाहिए।
१३—चित्तकी एकाग्र समाधि रखना चाहिए।
१४—निष्कपट आचार पालन करना चाहिए।
१५—विनय करने योग्य व्यक्तियोकी यथायोग्य विनय करना चाहिए।
१६—सन्तोपके द्वारा तृष्णाकी मर्यादाको कम करना चाहिए।
१७—वैराग्यभावनामे निमग्न रहना चाहिए।
१८—मायारहित व्यवहार करना चाहिए।
१९—शुद्ध करनी (क्रिया) मे सावधान रहना चाहिए।
२०—सवरको धारण करना और पापको रोकना चाहिए।
२१—अपने दोपोको समभावपूर्वक दूर करना चाहिए।
२२—समस्त प्रकारके विपयोंमे विरक्त रहना चाहिए।
२३—मल गुणोमे पच महाव्रतोको विशुद्ध रीतिसे पालन करना चाहिए।
२४—उत्तर गुणोम पचमहाव्रतोको विशुद्ध रीतिसे पालन करना चाहिए।
२५—उत्साहपूर्वक कायोत्सर्ग धारण करना चाहिए।
२६—प्रमादरहित होकर ज्ञान ध्यानमे लीन रहना चाहिए।
२७—आत्मचारित्रमे सदैव सूक्ष्म उपयोगपूर्वक प्रवृत्त रहना चाहिए।
२८—जितेन्द्रियताके हेतु एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना चाहिए।

जब नव-तत्त्व सम्बन्धी चर्चा हुई तो उन्होंने थोडी देर विचार करके कहा कि—यह तो महावीरके कथनकी अद्‌भुत चमत्कृति है कि जीवका एक भी नया भेद नहीं मिलता। उसी प्रकार पाप पुण्य आदिकी एक भी विशेष प्रकृति नही मिलती और नौवाँ कर्म भी नही मिलता। सच तो यह है कि यह बात मेरे ध्यानमे ही नहीं थी कि जैनदर्शनमें ऐसे-ऐसे तत्त्वज्ञानके सिद्धान्त पाये जाते है। इसमें समस्त सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछेक अंशोंमें अवश्य आ सकता है।

शिक्षापाठ ८७ : तत्त्वावबोध—भाग ६

इस ओरसे इसका उत्तर यह दिया गया कि—अभी जो आप इतना कह रहे हैं वह भी तवतक है जबतक कि आपके हृदयमें जैनधर्मके तत्त्वविचार नहीं आये हैं, किन्तु मैं मध्यस्थतापूर्वक सत्य कहता हूँ कि इसमें जो विशुद्ध ज्ञान बताया गया है वह अन्यत्र कही भी नही है और सर्वमतोंने जो ज्ञान बतलाया है वह महावीर-के तत्त्वज्ञानके एक भागमें आ जाता है। इनका कथन स्याद्वाद है, एकपक्षीय नहीं।

आपने कहा है कि इसमे कुछेक अशमें सृष्टिका तत्त्वज्ञान अवश्य आ सकता है, परन्तु यह मिश्र-वचन है। हमारी समझानेकी अल्प-ज्ञतासे ऐसा अवश्य हो सकता है, किन्तु ऐसी बात नही है कि इन तत्त्वोंमें कोई अपूर्णता है। यह कोई पक्षपातमय कथन नही है। विचार करने पर सम्पूर्ण सृष्टिमेसे इनके अतिरिक्त कोई दशवाँ तत्त्व खोजने पर कभी भी मिलनेवाला नही है। इस सम्बन्धमें यथा-प्रसंग जब अपनी बातचीत और मध्यस्थ चर्चा होगी तब निःशंकता हो पायेगी।

उन्होंने इसके उत्तरमें कहा कि इस परसे मुझे इतनी तो निः-शंकता है कि जैनदर्शन एक अद्भुत दर्शन है। आपने जो मुझे श्रेणी

१ आणाविजय (आज्ञाविचय), २ आवायविजय (अपाय विचय), ३ विवागविजय (विपाकविचय), ४ सठाणविचय (सस्थानविचय)।

१ आज्ञाविचय—आज्ञा अर्थात् सर्वज्ञ भगवान्ने धर्म-तत्त्व सम्बन्धी जो कुछ भी कहा है वह सब सत्य है, इसमे शका करना योग्य नही। कालकी हीनतासे, उत्तम ज्ञानके विच्छेद होनेसे, बुद्धि-की मन्दतासे अथवा ऐसे ही अन्य किसी कारणसे मेरी समझमे ये तत्त्व नही आते, परन्तु अर्हन्त भगवान्ने अशमात्र भी माया-युक्त अथवा असत्य नही कहा है, क्योकि वे वीतरागी, त्यागी और नि स्पृही थे। इन्हे मृपा कहनेका कोई भी कारण नही था। तथा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होनेके कारण वे अज्ञानसे भी मृपा नही कहेगे। जहाँ अज्ञान ही नही है वहाँ उस सम्बन्धी मृपा कहासे होवे ? इस प्रकार चितवन करना सो 'आज्ञाविचय' नामका प्रथम भेद है।

२ अपायविचय—राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादिसे जो दु ख उत्पन्न होता है उसका चिंतवन करना सो 'अपायविचय' नाम-का दूसरा भेद है। अपाय अर्थात् दु ख।

३ विपाकविचय—मै प्रतिक्षण जो-जो दु ख सहन करता हूँ, भवा-टवीमे पर्यटन करता हूँ, अज्ञान आदिको प्राप्त होता हूँ। वह समस्त कर्म-फलके उदयसे है, इस प्रकार चिंतवन करना सो धर्मध्यानका तीसरा भेद है।

४ सस्थानविचय—तीन लोकके स्वरूपका चिंतवन करना। लोक स्वरूप सुप्रतिष्ठकके आकारका है, जीव और अजीवसे सपूर्ण भरपूर है। यह असख्यात योजनकी कोटानुकोटिसे तिरछा लोक है। इसमे असख्यात द्वीप-समुद्र है, असख्यात ज्योतिषी, भवनवासी, और व्यन्तर आदिका निवास है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विचित्रता इसमे लगी हुई है। ढाई द्वीपमे जघन्य

इन्हें यथार्थ न कह सकें तो अनेक प्रकारसे दूपण आ सकते हैं। यदि वस्तु व्ययरूप हो तो वह ध्रुवरूप नहीं हो सकती,—यह पहली शंका। यदि उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्यता नहीं है तो जीवको किन प्रमाणोंसे सिद्ध करोगे ? यह दूसरी शंका। व्यय और ध्रुवतामें परस्पर विरोधाभास है, यह तीसरी शंका। यदि जीव केवल ध्रुव है तो उत्पत्तिमें जो 'हाँ' कहा है वह असत्य और चौथा विरोध। यदि उत्पन्न युक्त जीवका ध्रुव-भाव कहोगे तो उसे किसने उत्पन्न किया ?—यह पाचवाँ विरोध। इससे इसकी अनादिता समाप्त हो जाती है,—यह छठी शंका। यदि यह कहो कि केवल ध्रुव व्ययरूप है तो चार्वाकमिश्र वचन हुआ,—यह सातवाँ दोप। यदि उत्पत्ति और व्ययरूप कहोगे तो यह केवल चार्वाकका सिद्धान्त कहा जायेगा—यह आठवाँ दोप। उत्पत्तिका अभाव, व्ययका अभाव और ध्रुवताका अभाव कह कर, फिर तीनोंका अस्तित्व कहना, इनके पुनः रूपमें छः दोष। इस तरह कुल मिला कर चौदह दोष हुए। मात्र ध्रुवताको अलग कर देनेपर तीर्थंकरके वचन खंडित हो जाते हैं,—यह पन्द्रहवाँ दोष। उत्पत्ति ध्रुवता लेनेपर कर्त्ताकी सिद्धि होती है इससे सर्वज्ञ-वचन खंडित हो जाते हैं,—यह सोलहवाँ दोप। यदि उत्पत्ति व्ययरूपसे पाप पुण्य आदिका अभाव मान ले तो धर्माधर्म सबका लोप हो जायेगा,—यह सत्तरहवाँ दोप। उत्पत्ति, व्यय और सामान्य स्थितिसे (केवल अचल नहीं) त्रिगुणात्मक माया सिद्ध होती है,—यह अठारहवाँ दोष।

शिक्षापाठ ८९ : तत्त्वावबोध—भाग ८

यह कथन सिद्ध नही होनेपर इतने दोष आते है। एक जैन मुनिने मुझसे और मेरे मित्रमण्डलसे यों कहा था कि—जैन सप्त-भंगी नय अपूर्व है, और इससे सर्व पदार्थ सिद्ध होते है। इसमें अस्ति-नास्तिके अगम्यभेद विद्यमान है। यह कथन सुनकर हम

अज्ञानसे उपार्जित कर्मोको हम ज्ञानसे खपावें और ज्ञानके द्वारा नये कर्मोंको न बाँधें, मिथ्यात्वके द्वारा उपार्जित कर्मोको सम्यक्भावसे खपावे और सम्यक्भावसे नये कर्मोको न बाँधें, अवैराग्यसे उपार्जित कर्मोको वैराग्यसे खपावे और वैराग्यसे नये कर्मोको न बाँधें। कषायसे उपार्जित कर्मोको कषायको दूर करके खपावें और क्षमादिसे नये कर्मोको न बाँधें, अशुभ योगसे उपार्जित कर्मोको शुभ योगसे खपावे और शुभ योगसे नये कर्मोको न बाँधें, पाँच इन्द्रियोके स्वादरूप आस्रवसे उपार्जित कर्मोको सवरसे खपावें और तत्त्वरूप सवरसे नये कर्मोको न बाँधें, इसके लिए अज्ञानादि आस्रव मार्ग छोडकर ज्ञानादि सवर मार्ग ग्रहण करनेके लिए तीर्थंकर भगवान्के उपदेशको सुननेकी रुचिके उत्पन्न होनेको उपदेशरुचि कहते हैं। धर्मध्यानके ये चार लक्षण कहे।

धर्मध्यानके चार आलबन कहता हूँ—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ परावर्त्तना, ४ धर्मकथा।

१ वाचना—विनय सहित निर्जरा तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए सूत्र सिद्धातके मर्मज्ञ गुरु अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्र तत्त्वका अभ्यास करना सो वाचनालबन।

२ पृच्छना—अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जिनेश्वर भगवान्के मार्गको दिपाने और शका-शल्यको निवारण करनेके लिए तथा दूसरोके तत्त्वोकी मध्यस्थ परीक्षाके लिए यथायोग्य विनय सहित गुरु आदिसे प्रश्नोके पूछनेको पृच्छना कहते हैं।

३ परावर्त्तना—पूर्वम जो जिनभाषित सूत्रार्थ पढे हों उन्हे स्मरणमे रखनेके लिए और निर्जराके लिए शुद्ध उपयोग सहित शुद्ध सूत्रार्थकी वारवार सज्झाय करना परावर्त्तनालबन है।

४ धर्मकथा—वीतराग भगवान्ने जो भाव जैसे प्रणीत किये हैं, उन भावोको उसी तरह समझकर, ग्रहण करके, विशेषरूपसे निश्चय करके, शका, काक्षा और वितिगिच्छारहित अपनी निर्जरा-

ध्रौव्यमें 'अस्ति'की जो योजना की गई है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती हैं कि "द्रव्यकी अपेक्षासे जीव किसी भी कालमें नाशको प्राप्त नहीं होता, वह त्रिकाल सिद्ध है।"

मैं समझता हूँ कि इस प्रकारसे लगाये गए दोष भी दूर हो जाएँगे।

१—जीव व्ययरूपसे नहीं है, इसलिए ध्रौव्य सिद्ध हुआ। यह पहला दोप दूर हुआ।

२—उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्य न्यायसे भिन्न-भिन्न सिद्ध हो गए, इसलिए जीवका सत्यत्व सिद्ध हो गया। इस प्रकार यह दूसरा दोष दूर हुआ।

३—जीवकी सत्यस्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इससे व्यय नष्ट हुआ। यों तीसरा दोष टल गया।

४—द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई। यह चौथा दोष दूर हुआ।

५—जीव अनादि सिद्ध हुआ, इसलिए उत्पत्ति सम्बन्धी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

६—उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिए कर्त्ता सम्बन्धी छठा दोष दूर हुआ।

७—ध्रुवताके साथ व्ययको लेनेमें बाधा नहीं आती, इसलिए चार्वाकमिश्रवचनका सातवाँ दोष दूर हुआ।

८—उत्पत्ति और व्यय पृथक्-पृथक् देहमें सिद्ध हुए, इसलिए मात्र चार्वाक्सिद्धान्त नामक आठवे दोषका परिहार हो गया।

९ से १४—शंकाका पारस्परिक विरोधाभास दूर जो जानेसे चौदह तकके दोष दूर हो गए।

भावनाबोध

(द्वादशानुप्रेक्षा-स्वरूपदर्शन)

उपोद्घात

सच्चा सुख किसमे है ?

चाहे जैसे तुच्छ विषयमे प्रवेश होनेपर भी उज्ज्वल आत्माओ-की स्वाभाविक अभिरुचि वैराग्यमे प्रवृत्त होनेकी है। बाह्य दृष्टिसे जबतक उज्ज्वल आत्मा ससारके मायामय प्रपचमे दर्शन देते हैं तबतक इस कथनका सिद्ध होना क्वचित् दुर्लभ है। तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस कथनका प्रमाण मात्र सुलभ है, इतनी बात नि सशय है।

एक छोटे-से-छोटे प्राणीसे लेकर मदोन्मत्त हाथीतक सभी प्राणी, मनुष्य और देवदानव इत्यादि सभीकी स्वाभाविक इच्छा सुख और आनन्द प्राप्त करनेकी है। इसलिए वे उसकी प्राप्तिके उद्योगमे लगे रहते हैं, किन्तु विवेक बुद्धिके बिना वे उसमे भ्रमको प्राप्त होते हैं। वे ससारमे विविध प्रकारके सुखोको आरोपित करते हैं, किन्तु सूक्ष्म अवलोकनसे यह सिद्ध है कि वह आरोप व्यर्थ है। इस आरोपको अनारोप करने वाले विरले मनुष्य विवेकके प्रकाश द्वारा अद्भुत किन्तु अन्य विषयको प्राप्त करनेके लिए कहते आये हैं। जो सुख भय-से युक्त है वह सुख नही, किन्तु दु ख है। जिस वस्तुको प्राप्त करनेमे महाताप है, जिस वस्तुके भोगनेमे इससे भी अधिक सताप है तथा परिणाममे महासताप, अनन्त शोक और अनन्त भय समाये हैं उस वस्तुका सुख मात्र नामका सुख है अथवा वह सुख है ही नही। ऐसा होनेसे विवेकी लोग उसमे अनुराग नही करते। ससारके प्रत्येक सुख-

अस्तिपर घटाकर देखा वैसे ही इसमें भी वहुत सूक्ष्म विचार करना है। शरीरमें शरीरकी पृथक्-पृथक् उत्पत्ति, च्यवन, विश्राम, गर्भाधान, पर्याप्ति, इन्द्रिय, सत्ता, ज्ञान, संज्ञा, आयु, विपय इत्यादि अनेक कर्म-प्रकृतियोंको प्रत्येक भेदसे लेनेपर जो विचार इस लब्धिसे निकलते है वे अपूर्व है। जहाँ तक लक्ष्य पहुँचता है वहाँ तक सव विचार करते है, किन्तु द्रव्यार्थिक और भावार्थिक नयसे समस्त सृष्टिका ज्ञान इन तीन शब्दोंमें निहित है। उसका विचार कोई विरला ही करता है। जव यह सद्गुरुके मुखसे पवित्र लब्धिके रूपमें प्राप्त हो सकता है तव फिर इससे द्वादशांगी ज्ञान क्यों नहीं हो सकता ?

"जगत्" ऐसा कहनेपर जैसे मनुष्य एक घर, एक निवास, एक गाँव, एक शहर, एक देश, एक खण्ड और एक पृथ्वी आदि सबको छोड़कर असंख्यात द्वीप—समुद्र आदिसे परिपूर्ण वस्तुको एकदम कैसे समझ लेता है ? इसका कारण मात्र इतना ही है, कि इस शब्दकी बहुलताको उसने समझा है, अथवा उसने लक्ष्यकी अमुक बहुलताको समझ लिया है; जिससे वह "जगत्" शब्दके कहते ही इतने बड़े मर्मको समझ लेता है। इसी प्रकार ऋजु और सरल सत्पात्र शिष्य निर्ग्रन्थ गुरुसे इन तीन शब्दोंकी गम्यताको प्राप्त करके द्वादशांगी-ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार वह लब्धि अल्पज्ञताके कारण विवेकपूर्वक देखनेपर क्लेशरूप भी नही है।

शिक्षापाठ ९२ : तत्त्वावबोध—भाग ११

इसी प्रकार नव तत्त्वोंके सम्बन्धमें है। जिस मध्यवयके क्षत्रियपुत्रने "जगत् अनादि है" ऐसा बेधड़क कहकर कर्ताको उड़ाया होगा, उस पुरुपने क्या कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके विना किया होगा ? इसी प्रकार जब आप इनकी निर्दोषताके सम्बन्धमें पढ़ेंगे तो निश्चयसे ऐसा विचार करेंगे कि वे परमेश्वर थे। क्योंकि कर्ता नहीं था और

पोपण पाकर वृद्धिगत होकर वृक्षरूप होगा। फिर वह वृक्ष निर्जरा और आत्म-प्रकाशरूप फल देगा।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकार वेदान्तवादियोने बताये है, परन्तु जैसे इस धर्मध्यानके पृथक् पृथक् सोलह भेद यहाँ कहे गये है वैसे तत्त्वपूर्वक भेद अन्यत्र कही भी नही कहे गये, यह अपूर्व है। इसमेसे शास्त्रोंके श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचार करनेका, अन्यको बोध करनेका, शका काखा दूर करनेका, धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका, अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारने का, वैराग्य पानेका, ससारके अनन्त दु ख मनन करनेका और वीतराग भगवान्‌की आज्ञामे समस्त लोकालोक विचार करनेका अपूर्व उत्साह मिलता है। भेद प्रभेद करके इसके फिर अनेक भाव समझाये है। इसमेके कुछ भावोंके समझनेसे तप, शान्ति, क्षमा, दया, वैराग्य, और ज्ञानका बहुत-बहुत उदय होगा।

तुम कदाचित् इन सोलह भेदोका पठन कर गये होगे तो भी पुन-पुन उसका परावर्तन करना।

शिक्षापाठ ७७ • ज्ञानके सम्बन्धमे दो शब्द—भाग-१

जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते है। ज्ञान शब्दका यह अर्थ है। अब अपनी बुद्धिके अनुसार यह विचार करना है कि क्या इस ज्ञानकी कोई आवश्यकता है? और यदि आवश्यकता है तो उसकी प्राप्तिके लिए क्या कोई साधन है? और यदि साधन है तो क्या उसके अनुकूल देश, काल और भाव विद्यमान है? यदि देश, काल आदि अनुकूल हैं तो वे कहाँ तक अनुकूल हैं? विशेषमे यह भी विचार करना है कि इस ज्ञानके कितने भेद हैं? जाननेरूप क्या है? और फिर इसके कितने भेद हैं? तथा इसके जाननेके कौन-कौनसे साधन हैं? तथा उन साधनोको किस-किस

अज्ञानसे ही इन दोनोंमें निकटता है; किन्तु ज्ञानसे जीव और मोक्ष-की निकटता है जैसे—
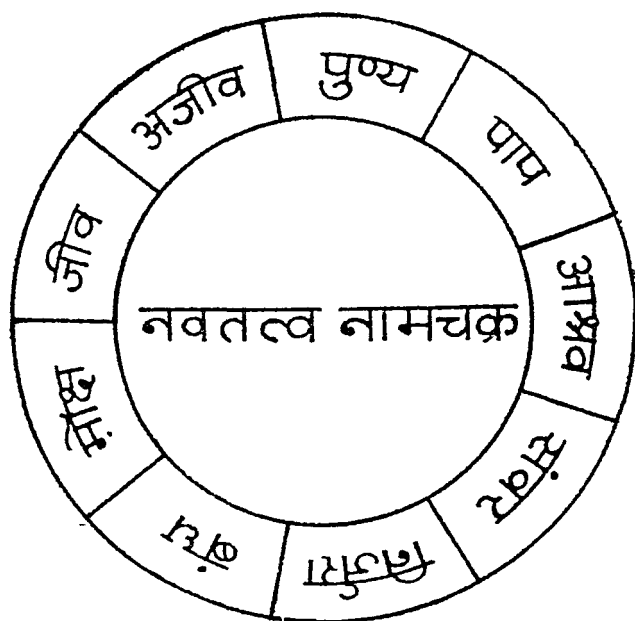
अब देखो, क्या इन दोनोंमें कुछ निकटता आई है? हाँ कही हुई निकटता आ गई है। किन्तु यह निकटता तो द्रव्यरूप है। जब भावरूपमें निकटता आये तब ही सर्वसिद्धि होवे। इस निकटताका साधन सत्परमात्मतत्त्व, सद्गुरुतत्त्व और सद्धर्मतत्त्व हे। मात्र एक ही रूप होनेके लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।

इस चक्रसे यह भी आशका होती है कि जब दोनों निकट है तो क्या शेष रहे हुओंको त्याग देना चाहिए? इसके उत्तरमें यह कहता हूँ कि यदि सबका त्याग हो सकता हो तो त्याग दो। इससे मोक्ष-रूप ही हो जाओगे। अन्यथा हेय, ज्ञेय और उपादेयका बोध ग्रहण करो, इससे आत्मसिद्धि प्राप्त होगी।

है उनके पवित्र वचनामृतकी उन्हे श्रुति नही होती और श्रुतिके विना सस्कार नही होते और जब सस्कार ही नही हो तो फिर श्रद्धा कहाँसे होगी ? और फिर जहाँ यह एक भी न हो तो फिर वहाँ ज्ञान प्राप्ति कैसे होगी ? इसलिए मानव-देहके साथ ही सर्वज्ञ-वचनामृतकी प्राप्ति और उसकी श्रद्धा भी साधनरूप है। सर्वज्ञ-वचनामृत अकर्मभूमिमे अथवा मात्र अनार्यभूमिमे नही मिलते तब फिर वहाँ मानव-देह किस उपयोगका ? इसलिए आर्यभूमि भी साधनरूप है। तत्त्वकी श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिए और बोध-प्राप्तिके लिए निर्ग्रंथगुरुकी आवश्यकता है। द्रव्यसे जो कुल मिथ्यात्वी है उस कुलमे हुआ जन्म भी आत्मज्ञान प्राप्तिमे हानिरूप है। क्योकि धर्म-मत भेद अत्यन्त दु खदायक है। परम्परासे पूर्वजोंके द्वारा ग्रहीत दर्शनमे ही सत्यभावना बद्ध होती है इसलिए भी आत्म-ज्ञान रुकता है। इसलिये उत्तम कुल भी आवश्यक है। इन सबकी प्राप्तिके लिए भाग्यशाली बनना। उसमे सत्पुण्य अर्थात् पुण्यानुबधी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन है। इस प्रकार यह दूसरा साधनभेद कहा।

३ यदि साधन है तो क्या उनके अनुकूल देश और काल हैं ? इस तीसरे भेदका विचार करे। भारत, महा-विदेह इत्यादि कर्म-भूमि और उनमे भी आर्यभूमि देश रूपसे अनुकूल है। जिज्ञासु भव्य ! तुम सब इस समय भारतमे हो इसलिए भारतदेश अनुकूल है। काल भावकी अपेक्षासे मति और श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकनेकी अनुकूलता भी है। क्योकि इस दु पम पचमकालमे परमावधि, मन पर्यय और केवल ये पवित्र ज्ञान दिखाई नही देते हैं इसलिए कालकी सम्पूर्ण अनुकूलता नही है।

४ देश, काल आदि यदि अनुकूल हैं तो वे कहाँ तक है ? इसका उत्तर यह है कि अवशिष्ट सैद्धान्तिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान,

शिक्षापाठ ९५ : तत्त्वावबोध—भाग १४

जैनदर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचार-संकलनाओंसे भरा हुआ दर्शन है कि इसमें प्रवेश पानेके लिए भी बहुत समय चाहिए। ऊपर-ऊपरसे अथवा किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे अमुक वस्तुके सम्बन्धमें अभिप्राय बना लेना अथवा अभिप्राय देना विवेकी पुरुषका कर्तव्य नहीं है। जैसे—कोई तालाब सम्पूर्ण भरा हुआ हो तो उसका पानी ऊपरसे समान मालूम होता है, किन्तु जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते है वैसे-वैसे अधिकाधिक गहराई आती जाती है, फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है। इसी प्रकार जगत्के सभी धर्ममत एक तालाबके समान हैं। उन्हे ऊपरसे सामान्य सपाट देखकर समान कह देना उचित नही है। ऐसा कहनेवालोंने तत्त्वको प्राप्त भी नहीं किया है। यदि जैनधर्मके एक-एक पवित्र सिद्धान्त पर विचार करें तो आयु पूर्ण हो जायेगी तथापि पारको प्राप्त नहीं हो पायेंगे। अन्य सभी धर्म-मतोंके विचार जिनप्रणीत वचनामृतसिन्धुके आगे एक विन्दुके समान भी नही हैं। जिसने जैनधर्मको जाना और सेवन किया वह वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुप थे ! इसके सिद्धान्त कैसे अखंड, सम्पूर्ण और दयामय है ? इसमें दूपण तो कोई भी नहीं है। केवल निर्दोष तो एकमात्र जैनदर्शन है। ऐसा एक भी पारमार्थिक विपय नही है कि जो जैन-दर्शनमे न हो और ऐसा एक भी तत्त्व नहीं है कि जो जैनमतमें नही है। एक विपयको अनंत भेदोंसे परिपूर्ण कहनेवाला जैनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनभूततत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं है। जैसे एक शरीरमें दो आत्मा नहीं है उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके समान एक भी दर्शन नही है। ऐसा कहनेका क्या कारण है ? मात्र उसकी परिपूर्णता, निरागिता, सत्यता और जगत्-हितैपिता।

धमके मूल तत्त्वोमे मतमतान्तर वढेंगे। पाखडी और प्रपची मतोका मडन होगा। जन समूहकी रुचि अधर्मकी ओर जाएगी, सत्य और दया धीरे-धीरे पराभवको प्राप्त होगे। मोहादिक दोपोकी वृद्धि होती जाएगी। दम्भी और पापी गुरु पूज्य माने जायेंगे। दुष्ट वृत्तिके लोग अपने दद-फदमे मफल होगे। मीठे किन्तु धूर्त वक्ता पवित्र माने जायेंगे। शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि शीलयुक्त पुरुप मलिन कहलायेंगे। आत्मिकज्ञानके भेद नष्ट होते जाएँगे। हेतु-हीन क्रियाएँ वढती जाएँगी। वहुधा अज्ञान क्रियाओका सेवन होगा। व्याकुलता पूर्ण विपयोके साधन वढते जाएँगे। ऐकान्तिक पक्ष सत्ताधीश होगे। शृगारमे धर्म माना जाएगा। सच्चे क्षत्रियोंके विना भूमि शोक-ग्रस्त होगी। निर्माल्य राजवशी वेश्या-विलासमे मोहको प्राप्त होगे। धर्म, कर्म और सच्ची राजनीतिको भूल जाएँगे। अन्यायको जन्म देंगे। जैसे वनेगा वैसे प्रजाको लूटेंगे। स्वय पापपूर्ण आचरणका सेवन करके प्रजासे उनका पालन कराएँगे। राजवशके नाम पर शून्यता आती जाएगी। नीच मन्त्रियोकी महत्ता वढती जाएगी। वे दीन प्रजाको चूसकर भण्डार भरनेका राजाको उपदेश देंगे। शील-भग करनेका धर्म राजाको अगीकार करायगे। शौर्य आदि सद्-गुणोका नाश करायेंगे। शिकार आदिके पापोमे अन्ध वनायेंगे। राज्याधिकारी अपने अधिकारसे हजार गुना अहकार वतलायेंगे। ब्राह्मण लालची और लोभी हो जायेंगे। वे सद्विद्याको दवा देंगे और सासारिक साधनोको धर्म वतलाएँगे। वैश्य लोग मायावी, मात्र स्वार्थी और कठोर हृदयके होते जाएँगे। समस्त मानव-वर्गकी सद्वृत्तियाँ घटती जाएँगी। अकृत और भयकर कृत्य करनेमे उनकी वृत्ति नही रुकेगी। विवेक, विनय और सरलता इत्यादि सद्गुण घटते जायेंगे। अनुकम्पाके नाम पर हीनता आसन जमायेगी। माताकी अपेक्षा पत्नीके प्रति प्रेम

तव फिर लोग उनके सम्मुख कहे गये मतको नहीं मानेंगे। और फिर जिस लौकिक मतके कारण अपनी आजीविका लगी हुई है ऐसे वेद आदिकी महत्ता घट जानेसे अपनी महत्ता घट जायेगी, और फिर अपना स्थापित किया हुआ मिथ्या परमेश्वरपद नहीं चलेगा इसलिए उनने जैनतत्त्वमें प्रवेश करनेकी रुचिको मूलतः वन्द कर देनेके लिए लोगोंको ऐसी भ्रम-भभूत दी है कि जैनदर्शन नास्तिक-दर्शन है। लोग तो वेचारे डरपोक भेड़के समान हैं इसलिए वे विचार भी कहाँसे करें? यह कथन कितना अनर्थकारक और मिथ्या है इसे वे ही जान सकते हैं जिन्होंने वीतरागप्रणीत सिद्धांतको विवेक-पूर्वक जाना है। हो सकता है कि मंदवुद्धि लोग मेरे इस कथनको कदाचित् पक्षपातपूर्ण मानें।

शिक्षापाठ ९७ : तत्त्वाववोध—भाग १६

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलानेमें वे लोग एक कुतर्कसे मिथ्यारूपमें ही सफलीभूत होना चाहते हैं और वह यह है कि—जैनदर्शन ईश्वरको जगत्का कर्ता नहीं मानता, और जो परमेश्वरको (कर्ता) नही मानता वह तो नास्तिक ही है। यह वात भद्रिक लोगोको जल्दी जम जाती है। इसका कारण यह है कि उनमें यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नही होती। किन्तु इसपरसे यदि यह विचार किया जाय कि—तव फिर जैनदर्शन जगत्को अनादि-अनंत किस न्यायसे कहता है? कोई जगत्-कर्ता नही है, ऐसा कहनेमें इसका कारण क्या है? इस प्रकार एकके-वाद-एक भेदरूप विचार करनेसे वे जैनदर्शनकी पवित्रताकी ओर आ सकते हैं।

जगत्को रचनेकी ईश्वरको क्या आवश्यकता थी? और यदि उसे रचा भी तो उसमें सुख-दुःख स्थापित करनेका क्या कारण था और इस रचनाके वाद मौतको किसलिए बनाया? उसे यह लीला किसको वतलानी थी? जगत्को रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे

-स्याद्वाद-शैली अनुपम और अनन्त भेदभावसे परिपूर्ण है। इस शैलीको परिपूर्ण रूपसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, तथापि इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी सहायतासे यथा-बुद्धि नवतत्त्वोंका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावपूर्वक जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्मज्ञानका उदय होता है। नवतत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जिस प्रकार जिसकी जितनी बुद्धिकी गति है उस प्रकार वे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी दृष्टि पहुँचाते हैं और भावानुसार उनके आत्माकी उज्ज्वलता होती है और उसके द्वारा वह आत्मज्ञानके निमल रसका अनुभव करता है। जिसका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करता है वह पुरुष महद् भाग्यशाली है।

मैं इन नव तत्त्वोंके नाम पिछले शिक्षापाठमें कह चुका हूँ, इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावन्त आचार्योंके महान् ग्रन्थोंसे अवश्य जानना चाहिए। क्योंकि सिद्धातमें जो-जो कहा है उन सबको विशेष भेदसे समझनेके लिए प्रज्ञावन्त आचार्योंके द्वारा रचित ग्रन्थ सहाय-भूत हैं। ये गुरुगम्यरूप भी हैं। नौ तत्त्वोंके ज्ञानमें नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद आवश्यक हैं, और उनका यथार्थ ज्ञान उन प्रज्ञावन्तो-ने दिया है।

शिक्षापाठ ८३. तत्त्वावबोध—भाग २

सर्वज्ञ भगवान्ने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उन्होंने भव्य जीवोंको उनका उपदेश दिया। भगवान्ने अनन्त ज्ञानके द्वारा लोकालोक-स्वरूप सम्बन्धी अनन्तभेद जाने थे, किन्तु उन्होंने सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढनेके लिए मुख्य रूपसे नौ पदार्थ बतलाये हैं। इसमें लोकालोकके समस्त भावोंका समावेश हो जाता है। निर्ग्रंथ प्रवचनका जो-जो सूक्ष्म बोध है वह

कर सके तव फिर उन्होंने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि "जैन नास्तिक है, जैनधर्म चार्वाकमेंसे उत्पन्न हुआ है।" किन्तु यहाँ कोई प्रश्न करे कि महाराज! यह वात तो आप वादमें करना, क्योंकि ऐसी वातोंको करनेमें किसी समय, विवेक अथवा ज्ञानकी आवश्यकता नही होती, किन्तु आप पहले इस वातका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस वातमें कम है? इसका ज्ञान, इसका वोध, इसका रहस्य और इसका सत्शील कैसा है? एकवार इस सम्वन्धमें कुछ कहो तो आपके वेद-विचार किस सम्वन्धमें जैनदर्शनसे वढ़कर हैं? इस प्रकार जव वात मर्मस्थल पर आती है तव उनके पास केवल मौनके अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगवलसे इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदयको प्राप्त होते है, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुप शृंगारमें रचे-पचे पड़े हैं, सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते और जिनका आचार भी पूर्ण नहीं है उन्हें ऊँचा कहना अथवा परमेश्वरके नामसे स्थापित करना और सत्यस्वरूपकी निंदक भाषा वोलना तथा परमात्मस्वरूपको प्राप्त पुरुषोंको नास्तिक कहना—यह सव इनकी कितनी वड़ी कर्मकी वहुलताको सूचित करती है! किन्तु जगत् मोहांध है। जहाँ ऐसे मतभेद होते है वहाँ अन्धकार होता है। जहाँ ममत्व अथवा राग होता है वहाँ सत्यतत्त्व नही होता। इन वातोंपर हमें क्यों विचार नही करना चाहिए?

मैं तुम्हे एक मुख्य बात कहता हूँ जो ममत्त्वरहित और न्यायपूर्ण है। वह यह है कि तुम चाहे जिस दर्शनको मानो, जो भी तुम्हारी दृष्टिमें आये उस प्रकार जैनदर्शनको कहो। सभी दर्शनोंके शास्त्रतत्त्वको देखो और जैनतत्त्वको भी देखो। और फिर स्वतन्त्र आत्मिक शक्तिसे जो योग्य लगे उसे स्वीकार करो। भले ही मेरी वातको अथवा दूसरोंकी वातको एकदम स्वीकार मत करो किन्तु तत्त्वका विचार करं ।।

शिक्षापाठ ८४ तत्त्वाववोध--भाग ३

नव-तत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुगम्यतासे श्रवण, मनन और निदिध्यामनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते है वे सत्पुरुष महा पुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोको मेरा विनयभावभूषित यही उपदेश है कि वे नव-तत्त्वको अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थ जानें।

महावीर भगवान्के शासनमे वहुतसे मतमतान्तर पड गये हैं। उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासकवर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमे ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमे आई हुई पृथ्वीकी आवादी लगभग डेढ अरव गिनी जाती है, उसमे सव गच्छोको मिलाकर जैन लोग केवल वीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मै अनुमान करता हूँ कि दो हजार पुरुष भी शायद ही नव-तत्त्वको पढना जानते होगे। मनन और विचार पूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियो पर गिनने लायक भी नही होगे। तत्त्व-ज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है तभी मतमतान्तर वढ गये हैं। एक लौकिक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत" इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमे वहुधा भिन्नता नही आती।

इन नव-तत्त्व-विचारके सम्वन्धमे प्रत्येक मुनिसे मेरा निवेदन है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानको विशेष वृद्धिगत करें। इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ होंगे, जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दका प्रसाद मिलेगा, मुनित्व-आचार पालन करनेमे सरल हो जायेगा, ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणामत ससारका अन्त हो जायेगा।

तत्वज्ञानका प्रकाश करो तथा सत्‌शीलका सेवन करो। इसकी प्राप्तिके लिये जो-जो मार्ग बतलाये गये है वे सब मार्ग मनोनिग्रहत्वके आधीन हैं और मनोनिग्रहत्वके लिये लक्षकी बहुलताका होना अत्यावश्यक है। इस लक्ष्य-बहुलताकी प्राप्तिमें निम्नलिखित दोष विघ्नरूप है—

१ आलस्य
२. अनियमित निद्रा
३ विशेष आहार
४. उन्माद प्रकृति
५. माया प्रपंच
६. अनियमित काम
७ अकरणीय विलास
८. मान
९. मर्यादासे अधिक काम
१०. आत्म प्रशंसा
११. तुच्छ वस्तुमें आनन्द
१२. रसगारवलुब्धता
१३. अतिभोग
१४. दूसरेका अनिष्ट चाहना
१५. निष्कारण कमाई
१६. बहुतोंका स्नेह
१७ अयोग्य स्थानमें जाना
१८. एक भी उत्तम नियमको साध्य नहीं करना

जबतक इन अठारह विघ्नोंके साथ मनका सम्बन्ध है तबतक अठारह पापस्थानक क्षय नही होंगे। इन अठारह दोषोंके नष्ट होने-पर मनोनिग्रहत्व और अभीष्टसिद्धि हो सकती है। जबतक इन दोषोंकी मनसे निकटता है तबतक कोई भी मनुष्य आत्मसार्थकता नही कर सकता। अतिभोगके स्थानपर मात्र सामान्य भोग ही नहीं, परन्तु जिसने सर्वथा भोगत्यागव्रतको धारण किया है, तथा जिसके हृदयमें इनमेंसे एक भी दोषका मूल नही है वह सत्पुरुष महान् भाग्यशाली है।

शिक्षापाठ १०१ : स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

१—एक प्रकारसे नियम ही इस जगत्‌का प्रवर्तक है।

२—जो पुरुष सत्पुरुषोंके चरित्ररहस्यको प्राप्त कर लेता है वह परमेश्वर बनता है।

हो जाँय ऐसा है। साराश यह है कि सब प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, निर्मल गहन और गम्भीर विचार तथा स्वच्छ वैराग्यकी भेट इस तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होते हैं।

शिक्षापाठ ८६ तत्त्वावबोध—भाग ५

एक बार एक समर्थ विद्वान्के साथ निर्ग्रंथ प्रवचनकी चमत्कृति-के सम्बन्धमे मेरी चर्चा हुई। इस सम्बन्धमे उस विद्वान्ने कहा कि मै इतना तो मानता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे, उन्होंने जो उपदेश दिया उसे ग्रहण करके प्रज्ञावन्त पुरुषोने अग उपागकी रचना की है, और उनके जो विचार हैं वे चमत्कृतिसे परिपूर्ण हैं किन्तु उससे मै यह नही कह सकता कि इनमे समस्त सृष्टिका ज्ञान निहित है। फिर भी यदि आप इस सम्बन्धमे कोई प्रमाण देते हो तो मैं इस बात पर कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ।

इसके उत्तरमे मैंने उनसे कहा कि मै जैन वचनामृतको यथार्थ तो क्या, अपितु विशेष भेद करके भी नही जानता, तथापि जो कुछ सामान्य भावसे जानता हूँ उससे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ। इसके बाद नव-तत्त्वविज्ञानके सम्बन्धमे चर्चा चली। मैंने उनसे कहा कि इसमे समग्र सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, किन्तु यथार्थ सम-झनेकी शक्ति होनी चाहिए। उन्होंने मेरे इस कथनका प्रमाण माँगा। तब मैंने उन्हे आठ कर्मोंके नाम गिनाये, साथ ही यह भी सूचित किया कि इनके अतिरिक्त इनसे भिन्न भावको दिखानेवाला कोई नौवाँ कर्म आप ढूँढ निकालिए और पाप तथा पुण्यकी प्रकृतियो-का निर्देश करके मैंने कहा कि इनके अतिरिक्त एक भी अधिक प्रकृति आप ढूँढ दें। इस प्रकार कहते हुए बातको अनुक्रमसे ली। सर्व प्रथम मैंने जीवके भेद बतलाकर पूछा कि क्या आप इनमे कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते है? और अजीव द्रव्यके भेद बताकर पूछा कि क्या आप इससे कुछ और विशेष कह सकते हैं? इसी प्रकार

प्र०—कर्मोकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

उ०—आठ हैं ।

प्र०—कौन-कौन सी ?

उ०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयु और अंतराय ।

प्र०—इन आठों कर्मोकी सामान्य जानकारी दो ?

उ०—ज्ञानवरणीयकर्म आत्माकी ज्ञान सम्वन्धी अनन्त शक्तिका आच्छादन करता है। दर्शनावरणीय आत्माकी अनन्त दर्शन शक्तिका आच्छादन करता है। देहके निमित्तसे साता और असाता इन दो प्रकारके वेदनीय कर्मोसे अव्याबाधसुखरूप आत्माकी शक्ति रुकी रहती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। मोहनीय कर्मसे आत्मचारित्ररूप शक्ति रुकी हुई है। नामकर्मसे अमूर्तिरूप दिव्यशक्ति रुकी हुई है। गोत्रकर्मसे अटल अवगाहनारूप आत्मिकशक्ति रुकी हुई है। आयुकर्मसे अक्षय स्थिति गुण रुका हुआ है। अन्तराय कर्मसे अनन्तदान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोग शक्ति रुकी हुई है।

शिक्षापाठ १०३ : विविध प्रश्न—भाग २

प्र०—इन कर्मोके क्षय होनेसे आत्मा कहाँ जाता है ?

उ०—अनन्त और शाश्वत मोक्षमें ।

प्र०—क्या पहले कभी इस आत्माका मोक्ष हुआ है ?

उ०—नहीं ।

प्र०—कारण ?

उ०—मोक्ष प्राप्त आत्मा कर्ममल रहित होता है इसलिए उसका पुनर्जन्म नही होता ।

प्र०—केवलीके क्या लक्षण हैं ?

उ०—चार घनघाती कर्मोका क्षय और शेष चार कर्मोको

पूर्वक नवतत्त्वोंके कुछ भाग कह वतलाए हैं इससे मैं यह वेधड़क कह सकता हूँ कि महावीर गुप्त भेदको प्राप्त एक महापुरुष थे। इस प्रकार थोड़ी-सी बात करके "उपन्नेवा", "विघनेवा", "धुवेवा" यह लब्धि वाक्य उन्होंने मुझे कहा। यह कहनेके बाद उन्होंने यह वतलाया कि इन शब्दोके सामान्य अर्थमें तो कोई चमत्कृति दिखाई नही देती। उत्पन्न होना, नाश होना और अचलता, यही इन तीन शब्दोका अर्थ है किन्तु श्रीमान् गणधरोने तो ऐसा दर्शित किया है कि इन वचनोंको गुरुमुखसे श्रवण करनेपर पहलेके भाविक शिष्यो-को द्वादशागका आशयपूर्ण ज्ञान हो जाता था। इसके लिए मैंने बहुत कुछ विचार करके देखा फिर भी मुझे ऐसा लगा कि ऐसा होना असम्भव है, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म माना गया सैद्धातिक ज्ञान इसमें कहाँसे समा सकता है? क्या इस सम्बन्धमे आप कुछ विशेप विचार प्रगट कर सकेंगे?

शिक्षापाठ ८८ : तत्त्वावबोध—भाग ७

इसके उत्तरमें मैंने कहा कि इस कालमे तीन महाज्ञान परम्प-राम्नायसे भारतमे दिखाई नही देते, तथापि मैं कोई सर्वज्ञ अथवा महाप्रज्ञावान नही हूँ, फिर भी मेरा जितना सामान्य लक्ष्य पहुँच सकेगा उतना पहुँचाकर कुछ समाधान कर सकूँगा, ऐसा मुझे सभव लगता है। तब उन्होंने कहा कि यदि ऐसा सम्भव हो तो यह त्रिपदी जीवपर 'ना' और 'हाँ' के विचारसे घटित कीजिए। वह यो कि क्या जीव उत्पत्तिरूप है? नही। क्या जीव व्ययरूप है? नही। क्या जीव ध्रौव्यरूप है? नही। इस प्रकार एक वार घटाइए। और दूसरी वार—क्या जीव उत्पत्तिरूप है? हाँ। क्या जीव व्ययरूप है? हाँ। क्या जीव ध्रौव्यरूप है? हाँ। इस प्रकार घटाइए।

ये विचार सम्पूर्ण मडलने एकत्र करके योजित किए हैं यदि

प्र०—उसे किसने उत्पन्न किया था ?

उ०—उनके पहलेके तीर्थंकरोंने।

प्र०—उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है ?

उ०—तत्त्व स्वरूपसे एक ही हैं। विभिन्न पात्रोंको लेकर उनका उपदेश होनेसे और कुछ कालभेद होनेके कारण सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य मालूम होती है। परन्तु न्यायसे देखनेपर उसमें कोई भिन्नता नहीं है।

प्र०—उनका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ०—उनका उपदेश यह है कि आत्माका उद्धार करो, आत्माकी अनन्त शक्तियोंका प्रकाश करो और इसे कर्मरूप अनन्त दुःखसे मुक्त करो।

प्र०—इसके लिए उन्होंने कौनसे साधन बताए हैं ?

उ०—व्यवहारनयसे सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुका स्वरूप जानना, सद्देवका गुणगान करना, त्रिविध धर्मका आचरण करना, और निर्ग्रंथगुरुसे धर्मका स्वरूप समझना।

प्र०—त्रिविध धर्म कौनसा है ?

उ०—सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्चारित्ररूप।

शिक्षापाठ १०५ : विविध प्रश्न—भाग ४

प्र०—जबकि ऐसा जैनदर्शन सर्वोत्तम है तो सर्वजीव इसके उपदेशको क्यों नहीं मानते ?

उ०—कर्मकी बहुलतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए पटलसे और सत्समागमके अभावसे।

प्र०—जैनमुनियोंके मुख्य आचार क्या हैं ?

उ०—पाँच महाव्रत, दश प्रकारका यतिधर्म, सत्रह प्रकारका संयम, दस प्रकारका वैयावृत्य, नव प्रकारका ब्रह्मचर्य, बारह प्रकारका तप, क्रोध आदि चार प्रकारकी कषायोंका निग्रह और

सब घर आये और फिर योजना करते-करते इस लब्धिवाक्यको जीवपर योजित किया। मै समझता हूँ कि ऐसे अस्ति-नास्तिके दोनो भाव जीवपर घटित नही हो सकते, इसलिए लब्धिवाक्य भी क्लेशरूप हो पड़ेगे। यद्यपि इस ओर मेरी कोई तिरस्कारकी दृष्टि नही है।

इसके उत्तरमे मैंने कहा कि आपने जो अस्ति और नास्ति नयको जीवपर घटित करना चाहा है वह सनिक्षेप शैलीसे नही है, अर्थात् कभी इसमेसे ऐकान्तिक पक्ष भी लिया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद—शैलीका यथार्थ ज्ञाता भी तो नही हूँ, मै तो मन्दबुद्धिसे यत्किंचित् जानता हूँ। आपने अस्ति-नास्ति नयको भी शैलीपूर्वक घटित नही किया है। इसलिए मैं तर्कपूर्वक जो उत्तर दे सकता हूँ उसे आप सुनिए।

उत्पत्तिमे जो 'नास्ति'की योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि "जीव अनादि अनन्त है।" और व्ययमे जो 'नास्ति'की योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि "इसका किसी कालमे नाश नही होता।" तथा ध्रुवत्वमे जो 'नास्ति' की योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि "वह एक शरीरमे सदाके लिए रहनेवाला नही है।"

शिक्षापाठ ९० : तत्त्वावबोध—भाग ९

उत्पत्तिमे 'अस्ति'की जो योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि "जीवका मोक्ष होने तक वह एक शरीरमेसे च्युत होकर दूसरे शरीरमे उत्पन्न होता है।"

व्ययमे 'अस्ति'की जो योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि 'वह जिस शरीरमेसे आया है वहासे व्ययको प्राप्त हुआ है। अथवा इसकी आत्मिक रिद्धि विषयादिक प्रतिक्षण मरणसे रुकी हुई है' इस प्रकार व्ययको घटित कर सकते हैं।

उ०—यह तो मतभेद और जैनदर्शनके तिरस्कारके लिए है, परन्तु आप न्यायपूर्वक दोनोंके मूल तत्त्वोंको देखें।

प्र०—इतना तो मुझे भी लगता है कि महावीर आदि जिनेश्वरोंका कथन न्यायकी तुलापर सही है। परन्तु वे जगत्के कर्ताका निषेध करते है, और जगत्को अनादि अनंत कहते हैं। इस विषयमें कुछ-कुछ शंका होती है कि यह असंख्यात् द्वीप-समुद्रसे युक्त जगत् विना वनाये कहाँसे आ गया ?

उ०—हमें जवतक आत्माकी अनन्त शक्तिकी लेशभर भी दिव्य प्रसादी नहीं मिलती तभी तक ऐसा लगा करता है, परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर ऐसा नहीं लगेगा। 'सन्मतितर्क' ग्रन्थका आप अनुभव करेंगे तो यह शंका दूर हो जायेगी।

प्र०—परन्तु समर्थ विद्वान् अपनी मिथ्या वातको भी दृष्टान्त आदिसे सैद्धान्तिक कर देते है इसलिए यह खण्डित नही हो सकती परन्तु इसे सत्य कैसे कह सकते हैं ?

उ०—किन्तु इन्हें मिथ्या कहनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं था, और फिर यदि थोड़ी देरके लिए ऐसा मान भी लें कि हमें ऐसी शंका हुई कि यह कथन मिथ्या होगा, तो फिर जगत्कर्त्ताने ऐसे पुरुषको जन्म भी क्यों दिया ? ऐसे नाम डुवानेवाले पुत्रको जन्म देनेकी उसे क्या आवश्यकता थी ? तथा ये पुरुष तो सर्वज्ञ थे, यदि जगत्का कर्त्ता सिद्ध होता तो ऐसा कहनेमें उनकी कुछ हानि नही थी।

शिक्षापाठ १०७ : जिनेश्वरकी वाणी

(मनहर छन्द)

अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली,
अनंत अनंत नय निक्षेपे व्याख्यानी छे;

१५—अनादि अनतता सिद्ध हो जानेपर स्याद्वादका वचन सत्य सिद्ध हुआ, इस प्रकार पन्द्रहवाँ दोप दूर हुआ।

१६—कर्ता नही हे, यह सिद्ध होनेपर जिन वचनकी सत्यता सिद्ध हुई, इसलिए सोलहवें दोपका निराकरण हो गया।

१७—धर्म, अधर्म, देह आदिका पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवें दोपका परिहार हो गया।

१८—ये सब बातें सिद्ध होनेपर त्रिगुणात्मक माया असिद्ध होनेसे अठारवहाँ दोप दूर हो गया।

शिक्षापाठ ९१ : तत्त्वावबोध—भाग १०

मैं समझता हूँ कि इस प्रकार आपकी योजित योजनाका समाधान हो गया होगा। यह कोई यथार्थ शैली घटित नही की है, तथापि इसमे कुछ न कुछ विनोद अवश्य मिल सके ऐसा है। इसपर विशेप विवेचन करनेके लिए पर्याप्त समय चाहिए, इसलिए अधिक कुछ नही कहता, तथापि आपसे एक दो सक्षिप्त वातें कहनी हैं, यदि इमसे उचित समाधान हुआ हो तो कहूँ, पश्चात् उनकी ओरसे यथेच्छ उत्तर मिला और उन्होने कहा कि आपको जो एक दो बात कहनी हो वह सहर्ष कहिए।

पश्चात् मैंने अपनी बातको सजीवित करके लब्धिके सम्बन्धमे कहा। आप इस लब्धिके सम्बन्धमे शका करे या इसे क्लेशरूप कहे, तो इन वचनोंके प्रति अन्याय होता है। इसमे अत्यन्त उज्ज्वल आत्मिक शक्ति, गुरुगम्यता और वैराग्यकी आवश्यकता है। जब तक ऐसा नही होता तबतक लब्धि विपयक शका अवश्य बनी रहेगी। किन्तु मैं समझता हूँ कि इस समय इस सम्बन्धमे कहे गये दो शब्द निरर्थक नही होगे। वे ये है कि जैसे इस योजनाको नास्ति-

जो तप और ध्यानसे रविरूप होता है, उनकी सिद्धि करके सोमरूपसे शोभित होता है। तथा वह महामंगलकी पदवी प्राप्त करता है तब वह बुधको प्रणाम करनेके लिए आता है। तत्पश्चात् वह सिद्धिदायक निर्ग्रंथ गुरु अथवा पूर्ण व्याख्याता स्वयं शुक्रका ख्यातिपूर्ण स्थान ग्रहण करता है। उस दशामें तीनों योग सम्पूर्ण मंद पड़ जाते है, और आत्मा स्वरूप-सिद्धिमें विचरता हुआ विश्राम-को प्राप्त होता है।

●

जगत् अनादि था इसलिए उसने ऐसा कहा। इनके निष्पक्ष और केवल तत्त्वमय विचारोपर आपको अवश्य विशोधन करना योग्य है। जैनदर्शनका अवर्णवाद करनेवाले मात्र जैनदर्शनको नही समझते इसलिए वे इसके प्रति अन्याय करते है। मै समझता हूँ कि वे अपने ममत्वमय कदाग्रहके कारण अधोगतिको प्राप्त होगे।

इसके बाद बहुतसी बातचीत हुई और प्रसगानुसार इस तत्त्व-पर विचार करनेका वचन लेकर मै वहाँसे सहर्ष उठा।

तत्त्वावबोधके सम्बन्धमे यह कथन कहा। अनन्त भेदोसे भरे हुए ये तत्त्वविचार कालभेदसे जितने ज्ञेय प्रतीत हो उतने जानने, जितने ग्राह्यरूप प्रतीत हो उतने ग्रहण करने और जितने त्याज्य दिखाई दें उतने त्यागने।

जो इन तत्त्वोको यथार्थ जानता है वह अनन्त चतुष्टयसे विराज-मान होता है, यह मैं सत्यतापूर्वक कहता हूँ। इन नव तत्त्वोके नाम रखनेमे भी मोक्षकी निकटताका अर्थसूचन दिखाई देता है।

शिक्षापाठ ९३ तत्त्वावबोध—भाग १२

यह तो आपके लक्ष्यमें है हि कि जीव, अजीवके क्रमसे अन्तिम नाम मोक्षका आता है। और यदि इसे एकके बाद एक रखकर देखे तो जीव और मोक्षको क्रमश आदि और अन्तमे रहना पडेगा। जैसे —

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध, मोक्ष।

मैंने पहले कहा था कि इन नामोंके रखनेमे जीव और मोक्षकी निकटता है किन्तु यहाँ यह निकटता तो नही हुई, प्रत्युत् जीव और अजीवकी निकटता हुई। परन्तु यथार्थमे ऐसा नही है।

मोहिनीरूप है, किन्तु वहाँ उसे धारण करने वाली स्त्रियाँ निरन्तर भयान्वित हैं। अनेक प्रकारसे गूँथी गई शास्त्र-जालमे विवादका भय रहा है। किसी भी ससारिक सुखका गुण प्राप्त करनेसे जो आनन्द माना जाता है वह खल मनुष्यकी निन्दाके कारण भय मे युक्त है। जिसमे अनन्तप्रियता विद्यमान है, ऐसी काया किसी-न-किसी समय कालरूपी सिहके मुखमे जा पडेगी इस भयसे परिपूर्ण है। इस प्रकार ससारके मनोहर किन्तु चपल साहित्य-साधन भयमे भरे हुए हैं। विवेकमे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ मात्र शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

मात्र योगी भर्तृहरिने ही ऐसा कहा हो सो नही है। कालक्रमसे सृष्टिके निर्माण-समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ ऐसे असख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्य देश नही है कि जिसमे तत्त्वज्ञानियोकी बिल्कुल उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओने ससारसुखकी प्रत्येक सामग्रीको शोकरूप बताया है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शकर, गौतम, पतजलि, कपिल और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोमे मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश दिया है उसका रहस्य निम्नाकित शब्दोमे कुछ आ जाता है—

"अहो प्राणियो! ससाररूपी समुद्र अनन्त और अपार है। इसका पार पानेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!!"

ऐसा उपदेश देनेमे इनका हेतु प्रत्येक प्राणीको शोकसे मुक्त करनेका था। इन समस्त ज्ञानियोकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरके वचन सर्वत्र यही है कि ससार एकान्त और अनन्त शोकरूप तथा दुखदायी है। अहो भव्य लोगो! इसमे मधुरमोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

शिक्षापाठ ९४ तत्त्वाववोध—भाग १३

मैं यहाँ जो कुछ कह गया हूँ वह मात्र जैन कुलोत्पन्न पुरुषोंके लिए ही नही, किन्तु सवके लिए है और यह भी नि शक होकर मानना कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह निष्पक्षपात और परमार्थ बुद्धि-से कहता हूँ।

मुझे तुमसे जो धर्मतत्त्व कहना है उसे पक्षपात अथवा स्वार्थ-बुद्धिसे कहनेका मुझे कोई प्रयोजन नही है। मैं तुम्हे पक्षपात अथवा स्वार्थपूर्वक अधर्मतत्त्वका उपदेश देकर अधोगतिका वध किसलिए करूँगा? तुम्हे वारम्वार निर्ग्रन्थके वचनामृतके लिए कहता हूँ, इसका कारण यह है कि वे वचनामृत तत्त्वमे परिपूर्ण हैं। जिनेश्वरो-को ऐसा कोई भी कारण नही था कि जिसके निमित्तसे वे मिथ्या अथवा पक्षपातयुक्त उपदेश देते, और फिर वे अज्ञानी भी नही थे कि जिससे उनसे मिथ्या उपदेश हो जाए। अव तुम यहाँ यह आशका कर सकते हो कि यह कैसे मालूम हो कि वे अज्ञानी नही थे? तो मै इसके उत्तरमे उनके पवित्र सिद्धान्तोके रहस्यका मनन करनेको कहूँगा और जो ऐसा करेगा वह फिर किंचित्मात्र भी शका नही करेगा। मुझे जैनमत प्रवर्त्तकोने कोई दान-दक्षिणा नही दी है अथवा वे कही मेरे कुटुम्व-परिवारवाले भी नही हैं कि उनके पक्ष-पातके वशीभूत होकर मैं तुमसे कुछ भी कह दूँ। इसी प्रकार मेरे मनमे अन्य मत प्रवर्तकोके प्रति कोई वैर-बुद्धि भी नही है कि वृथा ही उनका खडन करूँ। मैं तो दोनोके प्रति मदमति मध्यस्थरूप हूँ। वहुत-वहुत मनन करके और जहाँ तक मेरी वुद्धि पहुँची है वहाँ तक विचार करके मैं विनयपूर्वक यह कहता हूँ कि प्रिय भव्यजनो! जैनदर्शन जैसा एक भी परिपूर्ण और पवित्र दर्शन नही है, वीतराग जैसा एक भी देव नही है, इसलिए यदि तैरकर अनत दु ख-समुद्रसे पार होना चाहते हो तो इस सर्वज्ञदर्शनरूप कल्पवृक्षका सेवन करो।

शिक्षापाठ ९६ · तत्त्वावबोध—भाग १५

न्यायपूर्वक मुझे भी इतना मानना चाहिए कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करना हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखलानी चाहिए। किन्तु दोनो बातोपर विवेचन करने-का यहाँ स्थान नही है, तथापि थोडा-थोडा कहता आया हूँ। मुख्य रूपमे जो बात है वह यह है कि जिसे मेरी बात रुचिकर प्रतीत न होती हो और असभव मालूम होती हो उसे जैनतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रो-को और अन्य तत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोको मध्यस्थबुद्धिसे मनन करके न्यायके काँटेपर तौलना चाहिए। इसपरसे अवश्य ही इतना महा-वाक्य निकलेगा कि पहले जो डकेकी चोट कहा गया था वही सच है।

जगत् भेडिया-धसानके समान है। शिक्षापाठमे धर्मके मतभेद-के सम्बन्धमे जैसा बतलाया गया था उसप्रकार धर्ममतोका जाल फैला हुआ है। कोई विरला ही विशुद्ध आत्मा होता है। और विवेकसे तत्त्वकी खोज कोई ही करता है। इसलिए मुझे इस बातका कोई भी विशेष खेद नही है कि अन्य दार्शनिक लोग जैन-तत्त्वको क्यो नही जानते? और इस सम्बन्धमे कोई आशका करनेकी भी बात नही है।

तथापि मुझे बहुत आश्चर्य होता है कि केवल शुद्ध परमात्म-तत्त्वको प्राप्त, सकल दूषणरहित, और जिन्हे मृषा कहनेका कोई कारण नही है ऐसे पुरुषोंके द्वारा कथित पवित्र दर्शनको जिन्होने स्वय तो जाना नही है और जिन्होने अपनी आत्माका हित भी नही किया है, किन्तु वे अविवेकके कारण मतभेदमे पड़कर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक क्यो कहते होंगे? मैं समझता हूँ कि ऐसा कहनेवाले जैनदर्शनके तत्त्वको नही जानते। उन्हे भय रहता है कि जैन तत्त्वको जान लेनेसे उनकी श्रद्धा बदल जाएगी,

पूर्व रचना करनेकी इच्छा क्यो नही हुई ? ईश्वर कौन है ? जगत्के पदार्थ कौनसे है ? और इच्छा क्या है ? यदि उसने सृष्टि-रचना की तो जगत्मे एक ही धर्मकी प्रवृत्ति रखनी थी, किन्तु इस प्रकार भ्रममे डालनेको क्या आवश्यकता थी ? यदि ऐसा मान लिया जाय कि उस बेचारेसे यह भूल हो गई तो भले हो। हम इसे क्षमा भी कर दे, किन्तु कोई यह तो बताए कि उसे यह अधिक चतुराई कहाँसे सूझी कि उसे ही जडमूलसे उखाडनेवाले महावीर जैसे पुरुषोको उसने जन्म दिया ? और फिर इनके कहे हुए दर्शनका जगत्मे अस्तित्व क्यो बना रहने दिया ? अपने ही हाथसे अपने पाँवपर कुल्हाडी मारनेकी उसे क्या आवश्यकता थी ? एक तो मानो इस प्रकारके विचार और अन्य दूसरे प्रकारके ये विचार कि जैन-दर्शनके प्रवर्त्तकोको क्या इससे कोई द्वेष था ? यदि वह जगत्कर्ता होता तो ऐसा कहनेसे इनके लाभको कोई हानि पहुँचती थी ? कोई जगत्कर्ता नही है और जगत् अनादि-अनत है ऐसा कहनेमे क्या इन्हे कोई महत्ता मिल जानेवाली थी ? इस प्रकार अनेक विचारो-पर विचार करनेसे ज्ञात होगा कि जगत्का जैसा स्वरूप था वैसा ही पवित्र पुरुषोने कहा है। इससे भिन्न रूपमे कहनेका उनका लेश-मात्र प्रयोजन नही था।

जिन्होने सूक्ष्मसे सूक्ष्म जतुओकी रक्षा करनेका विधान बताया और जिन्होने एक रजकणसे लेकर समस्त जगत्के विचार सम्पूर्ण भेदोके साथ कहे हैं ऐसे पुरुषोके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहनेवाले किस गतिको प्राप्त होगे यह विचार करते उनपर दया आती है।

शिक्षापाठ ९८ · तत्त्वावबोध—भाग १७

जो व्यक्ति न्यायमे विजय प्राप्त नही कर सकता वह बादमे गालियाँ देने लगता है। इसी प्रकार जब शकराचार्य और दयानन्द सन्यासी इत्यादि जैनदर्शनके अखण्डतत्त्व सिद्धान्तोका खण्डन नही

शिक्षापाठ ९९ समाजकी आवश्यकता

आग्लदेशवासियोने अनेक सासारिक कलाकौशलमे किस कारणसे विजय प्राप्तकी है? यह विचार करनेपर हमे तत्काल ज्ञात हो जायेगा कि उनका अति उत्साह और उस उत्साहमे अनेकोका सहयोग कारण है। कलाकौशलके इस उत्साहपूर्ण काममे उन अनेक पुरुषोके द्वारा स्थापित सभा अथवा समाजने क्या फल प्राप्त किया? तो इसके उत्तरमे कहा जायेगा कि लक्ष्मी कीर्ति और अधिकार। इस उदाहरणसे मै उस जातिके कलाकौशलकी खोज करनेका उपदेश नही देता, किन्तु मैं यह कहना चाहता हूँ कि—सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा प्रतिपादित गुप्ततत्त्व प्रमाद-स्थितिमे आ पडा है, उसे प्रकाशित करनेके लिए तथा पूर्वाचार्योके द्वारा गूँथे गए महान् शास्त्रोको एकत्र करनेके लिए, चले आ रहे गच्छोके मतमतातरको दूर करनेके लिए तथा धर्म-विद्याको प्रफुल्लित करनेके लिए सदाचारी श्रीमान् और विद्वान् दोनोको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है। जबतक पवित्र स्याद्वाद्मतके आच्छादित तत्त्वोको प्रसिद्धिमे लानेका प्रयास नही होगा तबतक शासनकी उन्नति नही हो सकेगी। सासारिक कलाकौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु इस धर्म कला-कौशलसे तो सर्व-सिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अन्तगत उपसमाजोकी भी स्थापना करना चाहिए। किसी एक साम्प्रदायिक घेरेमे बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतातरोको छोडकर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोके अन्तर्गच्छ—मतभेद दूर हो, मानव समाजका लक्ष्य सत्यवस्तुपर जाये तथा ममत्व दूर हो।

शिक्षापाठ १०० मनोनिग्रहके विघ्न

बारम्बार जो उपदेश दिया गया है उसमेसे जो मुख्य तात्पर्य निकलता है वह यह है कि आत्माका उद्धार करो और इसके लिए

३—चचल चित्त सव विपम दु खोकी जड है ।

४—वहुतोंसे मिलाप और थोडोके साथ अति समागमये दोनो समान दुखदायक हैं ।

५—समस्वभावीके मिलनेको ज्ञानी लोग एकात कहते है ।

६—इन्द्रियाँ तुम्हे जीते और तुम सुख मानो, इसकी अपेक्षा तुम इन्द्रियोंको जीतनेमे ही सुख आनन्द और परमपद प्राप्त करोगे ।

७—रागके विना ससार नही और ससारके विना राग नही ।

८—युवावस्थाका सर्वसगपरित्याग परमपदको देता है ।

९—उस वस्तुके विचारमें पहुँचो कि जो वस्तु अतीन्द्रिय-स्वरूप है ।

१०—गुणियोंके गुणोमें अनुरक्त होओ ।

शिक्षापाठ १०२ · विविध प्रश्न—भाग १

आज मैं तुमसे वहुतसे प्रश्न निर्ग्रन्थ-प्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिए पूछता हूँ ।

प्र०—कहो धर्मकी क्या आवश्यकता है ?

उ०—अनादिकालीन आत्माके कर्मजाल काटनेके लिए ।

प्र०—पहले जीव या कर्म ?

उ०—दोनो ही अनादि है । यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तु कोमल चिपटनेमें कोई निमित्त चाहिए । यदि कर्मको पहले कहो तो जीवके विना कर्म किए किसने ? इस न्यायसे दोनो ही अनादि हैं ।

प्र०—जीव रूपी है अथवा अरूपी ?

उ०—रूपी भी है और अरूपी भी है ।

प्र०—रूपी किस न्यायसे और अरूपी किस न्यायसे ? यह कहो ।

उ०—देहके निमित्तसे रूपी है और अपने स्वरूपमे अरूपी है ।

प्र०—देह निमित्त किस कारणसे है ?

उ०—अपने कर्मोके विपाकमे ।

कृश करके जो पुरुप त्रयोदश गुण स्थानकवर्ती होकर विहार करते हैं, वे केवली है।

प्र०—गुणस्थानक कितने है ?

उ०—चौदह।

प्र०—उनके नाम कहो।

उ०—१ मिथ्यात्वगुणस्थानक। २ सास्वादन गुणस्थानक। ३ मिश्रगुणस्थानक। ४ अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक ५ देश-विरति गुणस्थानक। ६ प्रमत्तसयत गुणस्थानक। ७ अप्रमत्तसयत गुणस्थानक। ८ अपूर्वकरण गुणस्थानक। ९ अनिवृत्तिबादर गुणस्थानक। १० सूक्ष्मसापराय गुणस्थानक। ११ उपशातमोह गुणस्थानक। १२ क्षीणमोह गुणस्थानक। १३ सयोगकेवली गुणस्थानक। १४ अयोगकेवली गुणस्थानक।

शिक्षापाठ १०४ विविध प्रश्न—भाग ३

प्र०—केवली तथा तीर्थंकरमे क्या अन्तर है ?

उ०—केवली तथा तीर्थंकर शक्तिमे समान है परन्तु तीर्थंकरने पहले तीर्थंकरनामकर्मका वध किया है', इसलिए वे विशेषरूपसे वारह गुण और अनेक अतिशयोको प्राप्त करते हैं।

प्र०—तीर्थंकर घूम-घूमकर उपदेश क्यो देते है। वे तो वीत-रागी हैं।

उ०—पूर्वमे वाँधे हुए तीर्थंकरनामकर्मके वेदन करनेके लिए उन्हे अवश्य ऐसा करना पडता है।

प्र०—वर्तमानमे प्रवर्तमान शासन किसका हैं ?

उ०—श्रमण भगवान् महावीरका।

प्र०—क्या महावीरसे पहले जैनदर्शन था ?

उ०—हाँ, था।

इनके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन तथा चरित्रका आराधन, इत्यादि अनेक भेद है।

प्र०—जैन मुनियोके समान ही सन्यासियोंके पाँच याम हैं, बौद्धधर्मके पाँच महाशील है, इसलिए इस आचारमे तो जैनमुनि, सन्यासी तथा बौद्धमुनि एकसे हैं न ?

उ०—नही।

प्र०—क्यो नही ?

उ०—इनके पचयाम और पाँच महाशील अपूर्ण हैं। जैनदर्शनमे महाव्रतके प्रतिभेद अतिसूक्ष्म है। उन दोनोंके स्थूल हैं।

प्र०—इनकी सूक्ष्मता दिखानेके लिये कोई दृष्टान्त दीजिए ?

उ०—दृष्टान्त स्पष्ट हे। पचयामी कदमूल आदि अभक्ष्य खाते है, सुखशय्यामे सोते है, विविध प्रकारके वाहन और पुष्पोका उपभोग करते हैं। केवल शीतल जलसे अपना व्यवहार चलाते हैं। रात्रिमे भोजन करते हे। इसमे होनेवाला असख्यातो जीवोका नाश, ब्रह्मचर्यका भग इत्यादिकी सूक्ष्मताको वे नही जानते। तथा बौद्धमुनि माँस आदि अभक्ष्य और सुखशील साधनोंसे युक्त हैं। जैनमुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त हैं।

शिक्षापाठ १०६ · विविध प्रश्न—भाग ५

प्र०—वेद और जैनदर्शनके बीच प्रतिपक्षता है क्या ?

उ०—जैनदर्शनकी किसी विरोधीभावसे प्रतिपक्षता नही है, परन्तु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है, उसी प्रकार जैनदर्शनके साथ वेदका सम्बन्ध है।

प्र०—इन दोनोमे आप किसे सत्य कहते हैं ?

उ०—पवित्र जैनदर्शनको।

प्र०—वेद-दर्शनवाले वेदको सत्य बताते हैं। उसका क्या ?

सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि मोक्षचारिणी प्रमाणी छे,
उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई मे मानी छे,
अहो! राजचन्द्र, बाळ रयाल नथी पामता ए,
जिनेश्वरतणी वाणी जाणो तेणे जाणी छे ॥ १ ॥

जो अनतानत भाव-भेदोसे भरी हुई है, अनतानत नय-निक्षेपोसे जिसकी व्याख्याकी गई है, जो सम्पूर्ण जगत्का हित करनेवाली है, मोहको हटानेवाली है, ससार-समुद्रसे पार करनेवाली है, जो मोक्षमे पहुँचानेवाली है, जिसे उपमा देनेकी इच्छा रखना भी व्यर्थ है, जिसे उपमा देना मानो अपनी बुद्धिका माप दे देना है ऐसा मै मानता हूँ। अहो राजचन्द्र! इस बातको बाल मनुष्य ध्यानमे नही लाते कि ऐसी जिनेश्वरकी वाणीको जो जानते हैं वे ही जानते हैं।

शिक्षापाठ १०८ पूर्णमालिका मगल

(उपजाति)

तपोपध्याने रविरूप थाय,
ए साधीने सोम रही सुहाय,
महान ते मगळ पक्ति पामे,
आवे पछी ते बुधना प्रणामे ॥ १ ॥
निर्ग्रन्थ ज्ञाता गुरु सिद्धि दाता,
कां तो स्वयं शुक्र प्रपूर्ण ख्याता,
त्रियोग त्या केवळ मंद पामे,
स्वरूप सिद्धे विचरी विरामे ॥ २ ॥